कि यह अमृत हमें कहाँ से और कैसे मिल सकता है, और आप ही इस बात का बदोबस्त कीजिए कि मिलने पर भी दैत्य लोग उसे हमारे हाथ से छीनकर न पी जायँ ।" भगवान् ने कहा—"इस समुद्र को मथो। इसके मथने से अंत में अमृत निकलेगा। पहले कालकूट—विष— पैदा हो तो उससे डरना मत, बीच बीच में और भी कितनी ही मनोहर चीजें निकलें तो उन्हें भी लेने का लोभ न करना। लेकिन एक बात है, तुम अकेले समुद्र को मथ नहीं सकोगे। इस काम के लिये दैत्यों को भी मिलाना होगा, इसलिये अब तुम दैत्यों के पास जाओ और उनसे मेल करो। उनसे मेल करके, मंदराचल की रई (मथनी) और वासुकि नाग की नेती (रस्सी) बनाकर, मेरी सहायता से, सावधान होकर, समुद्र को मथना शुरू कर दो।" देवताओं ने भगवान् की आज्ञानुसार दैत्यों से मेल किया और दोनों ने अमृत पाने के लिये समुद्र मथने का काम शुरू किया। भगवान् देवताओं के साथ रहे। भगवान् ने पहले सर्प के मुख की ओर का भाग हाथ में लिया, देवताओं ने भी वहीं लिया। लेकिन दैत्यों को यह बात पसद न आई। वे बोले—"हम वेद शास्त्र जाननेवाले हैं और जन्म और कर्म से श्रेष्ठ हैं, इसलिये सर्प का मनहूस और बुरा अंग—पूँछ—हम न पकड़ेंगे।" यह सुनकर भगवान् ने हँसकर मुख का भाग छोड़ दिया और पूँछ को ले लिया। देवताओं

कि यह अमृत हमें कहाँ से और कैसे मिल सकता है, और आप ही इस बात का बंदोबस्त कीजिए कि मिलने पर भी दैत्य लोग उसे हमारे हाथ से छीनकर न पी जायँ।" भगवान् ने कहा—"इस समुद्र को मथो। इसके मथने से अंत में अमृत निकलेगा। पहले कालकूट—विष— पैदा हो तो उससे डरना मत, बीच बीच में और भी कितनी ही मनोहर चीज़ें निकलें तो उन्हें भी लेने का लोभ न करना। लेकिन एक बात है, तुम अकेले समुद्र को मथ नहीं सकोगे। इस काम के लिये दैत्यों को भी मिलाना होगा, इसलिये अब तुम दैत्यों के पास जाओ और उनसे मेल करो। उनसे मेल करके, मंदराचल की रई (मथनी) और वासुकि नाग की नेती (रस्सी) बनाकर, मेरी सहायता से, सावधान होकर, समुद्र को मथना शुरू कर दो।" देवताओं ने भगवान् की आज्ञानुसार दैत्यों से मेल किया और दोनों ने अमृत पाने के लिये समुद्र मथने का काम शुरू किया। भगवान् देवताओं के साथ रहे। भगवान् ने पहले सर्प के मुख की ओर का भाग हाथ में लिया, देवताओं ने भी वहीं लिया। लेकिन दैत्यों को यह बात पसंद न आई। वे बोले—"हम वेद शास्त्र जाननेवाले हैं और जन्म और कर्म से श्रेष्ठ हैं, इसलिये सर्प का मनहूस और बुरा अंग—पूँछ—हम न पकड़ेंगे।" यह सुनकर भगवान् ने हँसकर मुख का भाग छोड़ दिया और पूँछ को ले लिया। देवताओं

कि यह अमृत हमें कहाँ से और कैसे मिल सकता है, और आप ही इस बात का बन्दोबस्त कीजिए कि मिलने पर भी दैत्य लोग उसे हमारे हाथ से छीनकर न पी जायँ।" भगवान् ने कहा—"इस समुद्र को मथो। इसके मथने से अत में अमृत निकलेगा। पहले कालकूट—विष— पैदा हो तो उससे डरना मत, बीच बीच में और भी कितनी ही मनोहर चीजें निकलें तो उन्हें भी लेने का लोभ न करना। लेकिन एक बात है, तुम अकेले समुद्र को मथ नहीं सकोगे। इस काम के लिये दैत्यों को भी मिलाना होगा, इसलिये अब तुम दैत्यों के पास जाओ और उनसे मेल करो। उनसे मेल करके, मदराचल की रई (मथनी) और वासुकि नाग की नेती (रस्सी) बनाकर, मेरी सहायता से, सावधान होकर, समुद्र को मथना शुरू कर दो।" देवताओं ने भगवान् की आज्ञानुसार दैत्यों से मेल किया और दोनों ने अमृत पाने के लिये समुद्र मथने का काम शुरू किया। भगवान् देवताओं के साथ रहे। भगवान् ने पहले सर्प के मुख की ओर का भाग हाथ में लिया, देवताओं ने भी वहीं लिया। लेकिन दैत्यों को यह बात पसद न आई। वे बोले—"हम वद शास्त्र जाननेवाले है और जन्म और कर्म से श्रेष्ठ हैं, इसलिये सर्प का मनहूस और बुरा अग—पूँछ—हम न पकड़ेंगे।" यह सुनकर भगवान् ने हँसकर मुख का भाग छोड़ दिया और पूँछ को ले लिया। देवताओं

कि यह अमृत हमें कहाँ से और कैसे मिल सकता है, और आप ही इस बात का बंदोबस्त कीजिए कि मिलने पर भी दैत्य लोग उसे हमारे हाथ से छीनकर न पी जायँ।" भगवान् ने कहा—"इस समुद्र को मथो, इसके मथने से अंत में अमृत निकलेगा। पहले कालकूट—विष— पैदा हो तो उससे डरना मत, बीच बीच में और भी कितनी ही मनोहर चीजें निकलें तो उन्हें भी लेने का लोभ न करना। लेकिन एक बात है, तुम अकेले समुद्र को मथ नहीं सकोगे। इस काम के लिये दैत्यों को भी मिलाना होगा, इसलिये अब तुम दैत्यों के पास जाओ और उनसे मेल करो। उनसे मेल करके, मंदराचल की रई (मथनी) और वासुकि नाग की नेती (रस्सी) बनाकर, मेरी सहायता से, सावधान होकर, समुद्र को मथना शुरू कर दो।" देवताओं ने भगवान् की आज्ञानुसार दैत्यों से मेल किया और दोनों ने अमृत पाने के लिये समुद्र मथने का काम शुरू किया। भगवान् देवताओं के साथ रहे। भगवान् ने पहले सर्प के मुख की ओर का भाग हाथ में लिया, देवताओं ने भी वहीं लिया। लेकिन दैत्यों को यह बात पसंद न आई। वे बोले—"हम वेद शास्त्र जाननेवाले हैं और जन्म और कर्म से श्रेष्ठ हैं, इसलिये सर्प का मनहूस और बुरा अंग—पूँछ—हम न पकड़ेंगे।" यह सुनकर भगवान् ने हँसकर मुख का भाग छोड़ दिया और पूँछ को ले लिया। देवताओं

बाल विनोद वाटिका का चौथा पुष्प

संपादक—प्रेमचंद

बाल-नीति-कथा

[द्वितीय भाग]

(श्रीमत सरकार महाराज साहब श्रीसयाजीराव गायकवाड़
की आज्ञा से लिखित)

लेखक

आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव एम्० ए०, एल् एल्० बी०
प्रिंसिपल और प्रो वाइस चैंसलर, हिंदू-विश्वविद्यालय

अनुवादक

बदरीनाथ भट्ट बी० ए०
हिंदी अध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक

गंगा पुस्तकमाला कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद पार्क
लखनऊ

सजिल्द १॥)]   सं० १९८१ वि०   [सादी १)

प्रकाशक
श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीकेसरीदास सेठ
नवलकिशोर-प्रेस
लखनऊ

विषय-सूची

कहानियाँ	पृष्ठ

कहानियाँ	पृष्ठ

	सादी	सजिल्द
३ बाल नीति-कथा (पहला भाग)	१।)	२।।।)
४ ,, ,, (दूसरा ,,)	१।)	१।।।)
५ गधे की कहानी	।।।)	१।)
६ लड़कियों का खेल	जुलाई तक निकल जायँगी।	
७ नटखट पाँड़े		
८ खेल-पचासा		
९ कीड़े मकोड़े		
१०. ऐतिहासिक कहानियाँ		

आशा है, पाठक हमारी गंगा-पुस्तकमाला और माधुरी की भाँति इस माला को भी अपनाकर हमारा उत्साह बढ़ाएँगे।

संचालक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद पार्क, लखनऊ

बाल-नीति-कथा

[द्वितीय भाग]

अवतरण

गुरुजी—बालको, कल शाम को हम तालाब पर टहलने गए थे, वहाँ केशवलाल ने पानी में कंकड़ फेंका तब उसमें कैसे कुंडाले (गोल लहरें) उठे थे सो याद है ?

एक बालक—हाँ महाराज, जहाँ वह कंकड़ गिरा था उसके आसपास एक कुंडाला हुआ, दूसरा हुआ, तीसरा हुआ और ऐसे होते होते ये कुंडाले तालाब के किनारे तक पहुँचे।

गुरुजी—अच्छा, उन कुंडालों का दृष्टांत लेकर आज मैं तुम्हें नीति का एक पाठ सिखलाना चाहता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

जगत् में अकेले हमीं नहीं रहते, हमारे आसपास हमारा कुटुंब है, कुटुंब ग्राम में, ग्राम तहसील में, तहसील ज़िले में, ज़िला प्रांत में, प्रांत देश में, देश मनुष्यजाति में, और मनुष्यजाति प्राणिमात्र में समाई हुई है। संक्षेप में कहा जाय तो हमारा शरीर, हमारा कुटुंब, हमारा

समाज, हमारा देश, संपूर्ण मनुष्यजाति और उसके बाद प्राणिजाति, बल्कि ब्रह्मांड—ऐसे एक से एक बड़े, एक के अंतर्गत एक, शरीर से ब्रह्मांड तक कुंडाले हैं, और इस कारण हमारा प्रेम भी इसी प्रकार शरीर से लेकर ब्रह्मांड तक अर्थात् अपने से शुरु होकर संपूर्ण जगत् तक फैलना चाहिए। इसमें हमारा प्रेम अपने लिये तो स्वभाव से ही होता है—जैसे हरएक प्राणी में, वैसे ही मनुष्य में भी—उसको कहीं से लाने नहीं जाना पड़ता, परंतु इसी प्रेम के वश होकर हम प्राय: अपना भला करने के बदले अपना बुरा कर बैठते हैं। हमारा सच्चा आत्मप्रेम अपना सच्चा हित करने ही में है, इसलिये यदि हम मौज और मजे में आकर अपने निज के हित का बिगाड़ करें तो हमें अपना ही दुश्मन कहा जा सकता है। इसलिये कष्ट सहकर शरीर को बनाना, विद्या संपादन करना, स्वाश्रयी बनना, यही हमारा सच्चा आत्मप्रेम है, और इसी कारण मैंने तुम्हें इनसे संबंध रखनेवाले सद्गुण सीखने का उपदेश किया है।

इस प्रेम का दूसरा कुंडाला कुटुंबप्रेम है। जन्म लेते ही तुम माँ की गोद में रहते हो और माँ के प्रेम से ही पल-कर बड़े होते हो और तुम्हें माता पर प्रेम होता है। इसी प्रकार अपने पिता, भाई, बहन आदि अन्य कुटुंबीजनों के साथ भी तुम बचपन से ही प्रेम में बँध जाते हो। तुम्हें इस बात की फिक्र रखनी चाहिए कि यह [illegible] होने

पर कम न हो जाय, स्वार्थ आदि दोषों से दब न जाय और बिगड़ न जाय।

अब प्रेम का तीसरा कुडाला लेते हैं। इसमें तुम्हारा ग्राम, शहर, प्रांत और देश शामिल है। हरएक मनुष्य का धर्म है कि जिस भाव और सम्मान से वह अपने माता-पिता की सेवा करता है उसी भाव और सम्मान से अपने ग्राम, शहर, प्रांत और देश की भलाई सोचे और सेवा करे। जो कुछ हम हैं उसके लिये जैसे अपने माँ बाप का उपकार मानना चाहिए वैसे ही अपने देश का भी मानना चाहिए जिसके अनगिनती प्रभावों के बीच में हम बड़े होते हैं और जिसकी भाषा, साहित्य, द्रव्य, राज्य आदि हमें बिना मिहनत मिलते हैं। उपकार केवल हृदय में ही भरकर न रखना चाहिए बल्कि देशसेवा के रूप में उसे प्रकट करना चाहिए।

परंतु जिस प्रकार अपने कुटुंब के प्रेम में हमें अपने देश का हित न भूलना चाहिए उसी प्रकार अपने देश का हित करते समय मनुष्य को मनुष्य की हैसियत से सारी मनुष्यजाति के प्रति—परदेशियों के प्रति भी—अपना कर्तव्य न भूलना चाहिए। सारी मनुष्यजाति के प्रति इस प्रेम को हम प्रेम का चौथा कुडाला कहेंगे।

परंतु अपने प्रेम के विस्तार में हमें यहाँ न रुक जाना चाहिए। जीवमात्र के हित की इच्छा करना हमारे प्रेम का अंतिम कुडाला है। इसी से बुद्ध भगवान् ने कहा था—

सुखी हों, सब सकुशल रहें, सब कल्याण देखें, कोई भी जीव दु ख न पावे।"

दूसरा बालक—गुरुजी महाराज, परंतु यह तो बतलाइए कि आपने ईश्वर के ऊपर प्रेम रखना क्यों नहीं गिनाया?

गुरुजी—शाबाश केशवलाल, मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि इस संसार के विविध प्रेमों में तुम ईश्वर-प्रेम को नहीं भूले। इस जगत् के सब प्रेमों की अपेक्षा ईश्वरप्रेम बढ़कर है, परंतु उसकी यही खूबी है कि वह यहाँ के प्रेमों से अलग नहीं है बल्कि यहाँ के सब प्रेम उसमें समाए हुए हैं, दूसरे सब प्रेम एक दूसरे के बिना हो सकते हैं। क्रूर पिता अच्छा देशभक्त हो सकता है, अथवा देश-भक्तिहीन मनुष्य भी पुत्रवत्सल पिता हो सकता है, परंतु जो मनुष्य पुत्रवत्सल पिता, दृढ स्वदेशभक्त और मनुष्य-मात्र, बल्कि जीवमात्र पर प्रेम करनेवाला महात्मा है वही ईश्वर के प्रति प्रेम रखना जानता है, ऐसा समझना चाहिए। इसी कारण मैंने ईश्वरप्रेम का कुंडाला, छठा कुंडाला नहीं गिनाया है। मैं उसको कुंडाला नहीं कहूँगा बल्कि सब कुंडालों में व्याप्त जल कहूँगा। जल में ही सब कुंडाले पड़ते हैं और सब कुंडालों में जल ही होता है, इसी प्रकार ईश्वरप्रेम में सब प्रेम विद्यमान हैं, और सब प्रेमों में ईश्वरप्रेम का निवास है।

६६—भाइयों का स्नेह

[१]

पेरिस शहर में एक कारीगर रहता था। उसे व्यापार में बड़ी हानि उठानी पड़ी थी। इस कारण उसने अपनी स्त्री को तो न्नाथियों के मठ में रख दिया और आप अपने दो बालकों को साथ ले, दूर गाँव में जा, मज़दूरी करके पेट पालने लगा। इतने पर भी बदनसीबी ने पीछा न छोड़ा। आख़िर बेचारा मर गया। उन दोनों अनाथ बालकों ने अपनी माता के पास पेरिस जाने का विचार किया। एक गाड़ी कितने ही मुसाफ़िरों को लेकर पेरिस जा रही थी। कुछ पैसे देकर उसमें बड़े भाई ने छोटे भाई को बैठा दिया और आप गाड़ी के साथ साथ चलने लगा। उनके हृदय में बार बार यही विचार उठता कि "माँ हमें देखकर कैसी प्रसन्न होगी।" बड़ा भाई कभी पीछे रह जाता तो जहाँ गाड़ी रास्ते में मुक़ाम करती वहाँ दौड़कर पहुँच जाता और अपने छोटे भाई की ख़बर लेता, उसे प्यास लगी होती तो पानी पिलाता। जैसे जैसे ग्राम निकलते गए वैसे ही वैसे बड़ा भाई थकता गया और उसके पैर भरने लगे, परन्तु वह प्रेम के ऐसे ख़याल कर करके कि मेरा छोटा भाई गाड़ी में मज़े में बैठा है, और मैंने उसे अपना गरम कोट उढ़ा दिया है जिससे उसे सर्दी न लगेगी, अपनी

को कुछ कुछ भूल जाता। परंतु उसकी उम्र अभी केवल बारह वर्ष की थी, इसलिये कहाँ तक थकान बरदाश्त करता? बेचारा ज्यों त्यों करके हाँफता हाँफता गाड़ी के साथ साथ चला जाता था। उसे देखकर दूसरे मुसाफ़िरों को दया आई और उन्होंने कुछ पैसे देकर उसे गाड़ीवाले के पास बैठा दिया। दोनों भाई पेरिस पहुँचे और मठ में अपनी माँ के पास गए। माँ ने उन्हें छाती से लगाया और सब हाल सुनकर बहुत रोई। पीछे वे तीनों छोटासा कुटुंब बनाकर मज़दूरी करके अपना निवाह करने लगे। बड़े भाई ने संगतराशी का काम सीखा। और थोड़े दिनों बाद फ़्रांस का एक अच्छा कवि हुआ।

हमारी यही कामना है कि बालकपन का ऐसा स्नेह भाइयों में बड़े होने पर भी बना रहे।

[२]

बड़े होने पर इस स्नेह का क़ायम रहना असंभव नहीं है। तुमने दो पोर्चुगीज भाइयों की कथा सुनी है? यदि सुनी हो तो सोचो कि बड़े भाई की ख़ातिर अपने प्राण देने को तैयार हो जानेवाले छोटे भाई का प्रेम कैसा होगा? न सुनी हो तो मैं वह कहता हूँ, सुनो—

एक समय लिसबन से गोआ बंदर को एक जहाज़ आ रहा था। यह उस समय की बात है जब स्वेज की नहरवाला रास्ता नहीं था और योरप के जहाज अफ़्रिका

के दक्षिण में "केप आफ् गुड होप" नाम के अंतरीप के पास होकर हिंदुस्तान को आते थे। यहाँ तक तो वह जहाज़ ठीक चला आया, पर एफ्रिका के पूर्वी किनारे की ओर मुड़ते ही वह एक चट्टान से टकराकर टूट गया। जहाज़ में एक छोटी नाव थी; उसे समुद्र में डालकर यात्री उसमें कूद पड़े। परंतु नाव कितना बोझ सँभाल सकती थी? सब यात्री सोचने लगे कि वह अवश्य डूब जायगी। उन्होंने निश्चय किया कि कुछ यात्रियों को समुद्र में फेंक दिया जाय और इस प्रकार जो बचें उनकी जान बचाई जाय। पर प्राण किसे प्यारे नहीं होते? किसे रहने दिया जाय और किसे फेंका जाय—यह सवाल पैदा हुआ। सब समझदार थे, उन्होंने निश्चय किया कि चिट्ठी डालकर देख लिया जाय, जिसके भाग्य में जीना निकले वह जिए और जिसके भाग्य में मरना बदा हो वह मरे। इन यात्रियों में दो भाई भी थे, जिनमें बड़े भाई के भाग में मरना आया और छोटे के भाग्य में जीना। छोटा भाई एकदम दौड़कर बड़े भाई से चिपट गया और यह कहकर ज़िद करने लगा—"भाई तुम न मरो, मुझे मर जाने दो।" दूसरे यात्रियों को छोटे भाई का स्नेह देखकर आश्चर्य हुआ, वे कहने लगे—"अरे भलेमानस! तुझे अपना प्राण प्यारा नहीं है क्या?" छोटे भाई ने कहा—'भाइयो, मुझे अपना बड़ा भाई अपने प्राण से भी अधिक प्यारा है। उसने मेरा पालन-

पोषण कर मुझे बड़ा किया है, पढ़ाया है और मनुष्य बनाया है। मेरी भाभी, मेरे भाई के बच्चे और मेरी तीनों बहनों का पालन करनेवाला भी यही है, और मैं तो अभी कॉरा हूँ, इसलिये मेरे मरने से किसी का नुकसान नहीं होगा।" बड़ा भाई बोला—"मेरी स्त्री तथा मेरे पुत्र और बहनों की तू खबरदारी करियो—मुझे ही समुद्र में गिरने दे।" परंतु बड़ा भाई ऐसा कहा ही किया और छोटा भाई उछलकर समुद्र में कूद भी पड़ा।

[२]

अब मे तुमसे एक कथा इस विषय की कहता हूं कि बड़े होकर, कमाने-खाने के लायक होने के बाद, भाइयों को आपस में किस प्रकार का वर्ताव करना चाहिए।

एक बुड्ढे पिता के बहुतसे पुत्र थे। उन्हें एक दिन आपस में लड़ते देखकर पिता ने अपने पास बुलाया और बोला—"यह सरकंडों का गट्ठा पड़ा है। इसे खोलो और इसमें से एक एक सरकडा लेकर उसके टुकड़े करो।" लड़कों ने एक एक सरकंडा लेकर बहुतसे सरकंडों के टुकड़े कर डाले। इसके बाद बुड्ढे ने कहा—"लड़को, अब जो थोड़ेसे बच रहे हैं इनका गट्ठा बाँधो।" लड़कों ने गट्ठा बाँधा। बुड्ढे ने कहा—"अच्छा, अब इस गट्ठे के टुकड़े करने चाहिएँ।" एक लड़का गट्ठे को खोलना चाहता था कि बुड्ढे ने उसे रोककर कहा—"अलग अलग सरकंडे तो

उन्ने खूब तोड़े, पर अब इस सरकंडों के गट्ठे को तोड़-
र मुझे दिखलाओ तो जानूँ !" लड़कों ने बड़ी कोशिश
पर बेकार गई ।

बुड्ढा बोला—"लड़को, एकता की महिमा देखो। यदि
म इस गट्ठे की तरह इकट्ठे रहोगे तो किसी भी मनुष्य की
क्ति नहीं कि तुम्हारा बाल बाँका कर सके। पर यदि तुम
क दूसरे से अलग हो जाओगे तो जैसी दशा अलग हुए
रकंडों की तुमने की है वैसी ही दशा संसार में तुम्हारी
गी।"

लड़कों के हृदय में यह उपदेश ऐसा चुभा कि उस दिन
वे कभी आपस में न लड़े। इतना ही नहीं, हरएक मौक़े
एक दूसरे की मदद करते रहे और मिलकर काम किया
ए। उन्हें बहुतसे कामों में सफलता मिली और संसार
उनका बड़ा नाम हुआ।

(१) खून का स्नेह स्वाभाविक स्नेह है। ईश्वर ने हमारे
में यह स्नेह ऐसी साफ़ तरह से रक्खा है कि उसके लिये कोई
त नहीं करना पड़ता। भाइयों में किसी पर आफ़त आवे या
मर जाय तो दूसरे भाइयों को उसके लिये दुःख होता है।
लिये ऐसे संबध में लड़ाई झगड़े करना, एक दूसरे से ईर्षा
ना, एक का दूसरे के दुःख में सुखी होना, प्रकृति के विरुद्ध,
चित और लज्जाजनक है।

(२) औरंगज़ेब आदि बादशाहों के उदाहरण देने चाहिएँ
यह बतलाना चाहिए कि यदि सब भाई एकता के साथ रहते

तो मुग़लराज कितना ताक़तवर होता। और भी ऐतिहासिक कथाएँ कहकर इस सत्य को विद्यार्थियों के हृदय पर अंकित करना चाहिए।

(३) अन्याय फूट का बीज है। एक दूसरे के लिये हानि उठाना, एक दूसरे से ईर्षा न करना, अपने साथ अन्याय होता हो तो मन में न लाना, इत्यादि कर्तव्य भाई का अवश्य है, पर सबका हृदय ऐसा उदार कहाँ से हो सकता है। इसलिये कुटुब में सदा आपस में न्याय का बर्ताव करना चाहिए जिससे फूट होने का भय कम रहे।

(४) ऊपर की कथा केवल भाइयों पर ही लागू नहीं, बल्कि सब प्रकार के कुटुब-संबंधियों पर भी घटती है।

(५) स्नेह का भाव होना प्राणिमात्र का स्वाभाविक धर्म है। परतु मनुष्यों में अन्य प्राणियों की अपेक्षा यह विशेषता है कि उसमें यह भाव केवल हृदय पर कुछ असर करके या कुछ शिक्षा या प्रेरणा करके ही खतम नहीं हो जाता परतु स्थिर स्नेहमय जीवन का साधन बनता है। इसी कारण, पर निकलने पर पक्षी उड़ जाते हैं और फिर एक दूसरे को पहचानते तक नहीं, परतु मनुष्य तो बड़े होने पर भी स्नेह क़ायम रखते हैं, उसे बढ़ाते हैं, और उसी के आधार से बड़े बड़े कामों को आपस में मिलकर हाथ में लेते और पूरा करते हैं। इस प्रकार स्नेह मनुष्य की उन्नति और कल्याण का परम साधन बन जाता है।

(६) कुटुब—'गृह' सद्गुणों का अनुभव करने और उन्हें सीखने की एक छोटीसी सुदर जगह है। जो सद्गुणों की बातें तुम यहाँ पाठशाला में सुनते हो उन्हें यदि कुटुब में व्यवहार में लाकर देखोगे तो तुमको उन सद्गुणों का स्वरूप और मज़ा अच्छी तरह मालूम हो जायगा।

(७) सत्य, न्याय, स्नेह, क्षमा, उद्योग, एकता, सहयोग (साथ

काम करना), कर्तव्यबुद्धि, निर्दोष आनंद आदि अनेक सद्गुणों का अनुभव कुटुंब में किस प्रकार से व्यवहार करने पर हो सकता है यह बात उदाहरण देकर शिक्षक को बतलानी चाहिए।

(८) कुटुंब में यदि बार बार इन सद्गुणों का व्यवहार कर उनकी आदत डालोगे तो ये आदतें, बड़े होने पर जब तुम संसार में और जगत् के विशाल व्यवहारों में भाग लोगे, तब तुम्हारे बहुत काम आवेंगी।

६७—इब्राहीम और लूत

इब्राहीम और लूत नाम के दो यहूदी चचा भतीजे थे। इब्राहीम बकरी, भेड़ और ऊँट चराता था और इस काम से उसे अच्छी आमदनी होती थी। लूत भी उसके साथ ही रहता था, इससे दोनों की जायदाद शामिल समझी जाती थी। जैसे जैसे उनके जानवर, नौकर आदि बढ़ते गए वैसे वैसे उनमें आपस में लड़ाई के मौक़े पैदा होने लगे। यह देख इब्राहीम ने, जो बड़ा समझदार आदमी था, सोचा कि अब साझा ज़्यादा दिन तक नहीं चल सकता। इसलिये उसने निश्चय किया कि लूत का हिस्सा अलग कर दे। एक पहाड़ी पर चढ़कर इब्राहीम ने लूत को चारों तरफ़ के चरागाह दिखलाए और उससे कहा कि जो हिस्सा तुझे अच्छा लगे वह तू ले ले। लूत ने इस बात का ज़रा भी विचार न करके कि उसे क्या और कितना लेना उचित है जोर्डन के किनारे के हरे भरे मैदान स्वयं लिए

ऊजड़ देश इब्राहीम के लिये रक्खा। इब्राहीम ने बिना कुछ आनाकानी किए इस बटवारे को स्वीकार कर लिया और उस दिन से लूत जोर्डन किनारे के खूब फलवाले देश में रहने को गया। उस प्रदेश में सदोम आदि कितने ही अमीर शहर थे। उन शहरों के निवासी भोग-विलास में डूब गए थे और ईश्वर को भूल गए थे। लूत भी उनकी संगति में पड़कर ईश्वर को भूल गया। इतने ही में पूर्व दिशा से एक राजा ने, त के देश पर धावा किया, वहाँ के लोगों को हराकर उनके घरबार लूट लिए और बहुतों को क़ैदी बनाकर चलता हुआ। इब्राहीम अपने भतीजे के क़ैदी होने का हाल सुन उसे छुड़ाने आया। उसने दुश्मन को हराकर सब क़ैदियों को छुड़ाया और उसकी लूटी हुई सब चीजें भी छीन लीं। सदोम के राजा ने इब्राहीम का बड़ा उपकार माना और उससे कहा कि जो लूट का माल तूने दुश्मन से छुड़ाया है उसे तू ही रख ले। पर इब्राहीम ने कहा—"मुझे तो यही बहुत है कि मेरा भतीजा छूट गया, मुझे तुम्हारा माल नहीं चाहिए।"

लूत छूटने के बाद फिर सदोम में जाकर रहा। ऐश-आराम और बुरों की सोहबत का फल वह एक बार भोग चुका था, फिर भी उसमें अक़ल न आई। इब्राहीम समझ गया था कि उस दुष्ट शहर के ऊपर कभी न कभी ईश्वर का कोप अवश्य होगा, इससे उसने ईश्वर की सच्चे हृदय से प्रार्थना

की—"ईश्वर, मेरे भतीजे और उसके कुटुंब की रक्षा करो।" ईश्वर ने भक्त की प्रार्थना सुन ली। लूत को फौरन् सदोम छोड़ जाने की आज्ञा दी गई। इस प्रकार लूत कुछ मन से कुछ बेमन से निकला ही था कि फौरन् शहर में आग लगी और देखते देखते सारा शहर राख में मिल गया।

(१) भाइयों का साथ साथ रहना अच्छा है। उस बुड्ढे ने मरते समय जो उपदेश लकड़ी के गट्ठे की मिसाल से अपने लड़कों को इकट्ठा रहने के लिये दिया था उसे याद रखना चाहिए।

(२) परन्तु उसी प्रकार कुत्तों, चिड़ियों, मुर्गों की लड़ाई के दृष्टान्त में से भी सार निकालना चाहिए कि यदि ऐसा प्रसंग आ जाय तो क्या होना ठीक है—लड़कर एक दूसरे को काटना, मुँह मारना, एक दूसरे को नोचना अच्छा या अलग होकर रहना अच्छा? यह प्रश्न पूछकर विद्यार्थियों के हृदय में यह बात जँचानी चाहिए कि कुटुंब में परस्पर झगड़ा होकर क्लेश बढ़ाने से तो यही अच्छा है कि भाई अलग होकर रहें।

(३) यदि अलग होना हो तो मेल से अलग होना चाहिए। एक पत्थर की चौकी के हिस्से के लिये भाइयों में झगड़ा हुआ। उन्होंने उसे तीसरी मंज़िल से चौक में पटक दिया और उसके टुकड़े बाँट लिए! हिस्से होते समय ऐसी मूर्खता से भरी लड़ाई का होना बड़ी लज्जा की बात है।

(४) ऊपर की कथा में चचा का उदार हृदय और भतीजे की स्वार्थदृष्टि देखो—एक को अपने सुख के सिवा किसी बात का ख़याल ही नहीं, और दूसरा बटवारा हो जाने पर भी अपना निकट संबंध नहीं भूलता और अंत तक अपने कर्तव्य का पालन करता है।

(५) इस कथा का मतलब केवल इतना ही नहीं है कि इब्राहीम के समान उदार और प्रेमी होना चाहिए, बल्कि यह भी है कि लूत के समान स्वार्थी और निर्मोही कभी न होना चाहिए।

(६) जैसा भाइयों का अथवा चचा-भतीजों का, वैसा ही भाई-बहन का स्नेह समझना चाहिए। कुल की आबरू और सामाजिक प्रतिष्ठा का भार पुत्र के सिर होता है, उस भार को उठाने के लिये हिंदूधर्मशास्त्र के अनुसार पिता की सब जायदाद उसे मिलती है। परंतु साथ ही भाई का कर्तव्य है कि छोटी बहनों का पालन-पोषण करे, विवाह के बाद ससुराल जाने पर समय समय पर रीति रिवाज के अनुसार देता रहे, और अपने यहाँ कोई उत्सव हो तो उनका नेग दे। बड़े होने पर भी भाई को बहन के साथ ऐसा स्नेह-संबंध क़ायम रखना चाहिए। मोर अपने पीछे के परों से ही सुंदर मालूम होता है, यों समझकर उसी तरह कुटुंब की भी प्रेमकला फैली रखनी चाहिए जिससे वह सुंदर मालूम हो।

६८—वचनामृत

[१]

आओ हम सब मिलकर खेलें, कभी न बोलें बुरे वचन,
लड़ने में कुछ लाभ नहीं है, मैला हो जाता है मन।
एक पिता परमेश्वर सबका, हम सब हैं उसके बालक,
कृपा चाहिए हमें उसी की, वही हमारा प्रतिपालक।
जीवन अपना सुख में बीते कभी न हो हमको संताप,
ऐसी कृपा करें स्वामी नित रहें सुखी प्यारे माँ बाप।

[२]

"मेरा तुम्हारे साथ एक हृदय हो, एक मन हो, मैं तुमसे द्वेष न करूँ। गाय बछड़े के पास जितने प्रेम से जाती है उतने प्रेम से एक

दूसरे से मिलें। पुत्र, पिता की आज्ञानुसार चलो, माता के साथ एक मन करो। भाई भाई से, बहन बहन से द्वेष न करे। स्त्री पति से मीठी वाणी बोले। सब इकट्ठे होकर, एक पवित्र कार्य में मिलकर, मीठी वाणी बोलें।"

—अथर्ववेद

६९—राम और भरत

दोहा

तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोचि तजि तात,
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन, कहहु हृदय की बात।

चौपाई

सुनि मुनि बचन राम रुख पाई, गुरु साहब अनुकूल अघाई।
लखि अपने सिर सब छरभारू, कहि न सकहिं कछु करत बिचारू।
पुलक सरीर सभा भए ठाढ़े, नीरज नयन नेह जल बाढ़े।
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा, इहि तें अधिक कहौं मैं काहा।
मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ, अपराधिहु पर कोह न काऊ।
मो पर कृपा सनेह बिसेखी, खेलत खुनस कबहुँ नहिं देखी।
सिसुपन तें परिहरेउ न संगू, कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू।
मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही, हारेहु खेल जितावहि मोही।

दोहा

महूँ सनेह सँकोचबस, सन्मुख कहेउँ न बैन,
दरसन तृप्ति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।

चौपाई

सुनि अति बिकल भरत बर बानी, आरति प्रीति बिनय नय सानी।
सोक मगन सब सभा खँभारू, मनहुँ कमलबन परेउ तुषारू।

(५) इस कथा का मतलब केवल इतना ही नहीं है कि इब्राहीम के समान उदार और प्रेमी होना चाहिए, बल्कि यह भी है कि लूत के समान स्वार्थी और निर्मोही कभी न होना चाहिए।

(६) जैसा भाइयों का अथवा चचा भतीजों का, वैसा ही भाई-बहन का स्नेह समझना चाहिए। कुल की आबरू और सामाजिक प्रतिष्ठा का भार पुत्र के सिर होता है, उस भार को उठाने के लिये हिंदूधर्मशास्त्र के अनुसार पिता की सब जायदाद उसे मिलती है। परन्तु साथ ही भाई का कर्तव्य है कि छोटी बहनों का पालन पोषण करे, विवाह के बाद ससुराल जाने पर समय समय पर रीति-रिवाज के अनुसार देता रहे, और अपने यहाँ कोई उत्सव हो तो उनका नेग दे। बड़े होने पर भी भाई को बहन के साथ ऐसा स्नेह-संबंध क़ायम रखना चाहिए। मोर अपने पीछे के परों से ही सुंदर मालूम होता है, यों समझकर उसी तरह कुटुंब की भी प्रेमकला फैली रखनी चाहिए जिससे वह सुंदर मालूम हो।

६८—वचनामृत

[१]

आओ हम सब मिलकर खेलें, कभी न बोलें बुरे वचन,
लड़ने में कुछ लाभ नहीं है, मैला हो जाता है मन।
एक पिता परमेश्वर सबका, हम सब हैं उसके बालक,
कृपा चाहिए हमें उसी की, वही हमारा प्रतिपालक।
जीवन अपना सुख से बीते कभी न हो हमको सताप,
ऐसी कृपा करें स्वामी नित रहें सुखी प्यारे माँ बाप।

[२]

"मेरा तुम्हारे साथ एक हृदय हो, एक मन हो, मैं तुमसे द्वेष न करूँ। गाय बछड़े के पास जितने प्रेम से जाती है उतने प्रेम से एक

दूसरे से मिले। पुत्र, पिता की आज्ञानुसार चलो, माता के साथ एक मन करो। भाई भाई से, बहन बहन से द्वेष न करे। स्त्री पति से मीठी वाणी बोले। सब इकट्ठे होकर, एक पवित्र कार्य में मिलकर, मीठी वाणी बोलें।"

—अथर्ववेद

६६—राम और भरत

दोहा

तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोचि तजि तात,
कृपासिंधु प्रिय बन्धु सन, कहहु हृदय की बात।

चौपाई

सुनि मुनि बचन राम रुख पाई, गुरु साहब अनुकूल अघाई।
लखि अपने सिर सब छरभारू, कहि न सकहिं कछु करत बिचारू।
पुलक सरीर सभा भए ठाढ़े, नीरज नयन नेह जल बाढ़े।
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा, एहि ते अधिक कहौं मैं काहा।
मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ, अपराधिहु पर कोह न काऊ।
मो पर कृपा सनेह बिसेखी, खेलत खुनस कबहुँ नहिं देखी।
सिसुपन ते परिहरेउ न संगू, कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू।
मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही, हारेहु खेल जितावहिं मोही।

दोहा

महूँ सनेह सँकोचबस, सन्मुख कहेउँ न बैन,
दरसन तृप्ति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।

चौपाई

सुनि अति बिकल भरत बर बानी, आरति प्रीति बिनय नय सानी।
सोक मगन सब सभा खँभारू, मनहुँ कमलबन परेउ तुषारू।

कहि अनेक विधि कथा पुरानी, भरत प्रबोध कीन्ह मुनि ज्ञानी।
बोले उचित बचन रघुनंदू, दिनकर कुल कैरव बन चंदू।
तात जाय जनि करहु गलानी, ईस अधीन दैवगति जानी।
तीनि काल त्रिभुवन मति मोरे, पुण्यश्लोक तात बस तोरे।
उर आनत तुम पर कुटिलाई, जाय लोक परलोक नसाई।
दोष देहिं जननिहिं जड़ तेई, जिन गुरु साधु सभा नहिं सेई।

दोहा

मिटहीं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार,
लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार।

चौपाई

कहौं स्वभाव सत्य सिव साखी, भरत भूमि रह राउर राखी।
तात कुतर्क करहु जनि जाए, बैर-प्रेम नहिं दुरै दुराए।
मुनिगन निकट बिहँग मृग जाहीं, बाधक बधिक बिलोकि पराहीं।
हित-अनहित पसु-पच्छिहु जाना, मानुषतन गुन-ज्ञाननिधाना।
तात तुमहिं मैं जानौं नीके, करौं कहा असमंजस जी के।
राखेउ राउ सत्य मोहिं त्यागी, तनु परिहरेउ प्रेमपन लागी।
तासु बचन मेटत मोहिं सोचू, तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू।
तापर गुरु मोहिं आयसु दीन्हा, अवसि जो कहो चहहुँ सो कीन्हा।

दोहा

कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब विधि सीतानाथ;
करि प्रनाम बोले भरत, जोरि जलज जुग हाथ।

चौपाई

कहहु कहावहुँ का अब स्वामी, कृपा अंबुनिधि अंतरयामी।
गुरु प्रसन्न साहिब अनुकूला, मिटै मलिन मन कल्पित सूला।
अपडर डरेउँ न सोच समूले, रबिहि न दोष देव दिसि भूले।
मोर अभाग मातु कुटिलाई, बिधिगति बाम काल कठिनाई।

पाऊँ रोपि सब मिलि मोहिं घाला, प्रनतपाल पन आपन पाला।
यह नइ रीति न राउर होई, लोकहु बेद बिदित नहिं गोई।
देव एक बिनती सुनि मोरी, उचित होय तस करब बहोरी।
तिलकसमाज साजि सब आना, करिय सफल प्रभु जो मनमाना।

दोहा

सानुज पठइय मोहिं बन, कीजिय सबहिं सनाथ,
नतरु फेरिय बंधु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ।

चौपाई

नतरु जाहिं बन तीनिहु भाई, बहुरिय सीय सहित रघुराई।
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई, करनासागर कीजिय सोई।
देव दीन्ह सब मो पर भारू, मोरे नीति न धर्म बिचारू।
कहौं बचन सब स्वारथ हेतू, रहत न आरत के चित चेतू।
सम मैं अवगुन उदधि अगारू, स्वामिसनेह सराहत साधू।
धर्मधुरीन धीर नयनागर, सत्य सनेह सील सुख सागर।
देस-काल लखि समय समाजू, नीति प्रीति पालक रघुराजू।
बोले बचन बानि सरबस से, हित परिनाम सुनत ससि रस से।
तात भरत तुम धरमधुरीना, लोक बेद पथ परम प्रबीना।

दोहा

करम बचन मानस बिमल, तुमसमान तुम तात,
गुरु समाज लघु बंधु गुन, कुसमय किमि कहि जात।

चौपाई

जानहु तात तरनिकुलरीती, सत्यसंध पितु कीरति प्रीती।
समय समाज लाज गुरजन की, उदासीन हित अनहित मन की।
तुमहिं बिदित सबही कर मर्मू, आपन मोर परम हित धर्मू।
मोहिं सब भाँति भरोस तुम्हारा, तदपि कहौं अवसर अनुसारा।

दोहा

राज काज सब लाज पति, धरम धरनि धन धाम ,
गुरुप्रभाव पालिहि सबहि, भल होइहि परिनाम ।

चौपाई

देस कोस पुरजन परिवारू, गुरुपद रजहि लाग छरभारू ।
तुम मुनि मातु सचिव सिख मानी, पालहु पुहुमि प्रजा रजधानी ।
पितुआयसु पालिय दोउ भाई, लोक वेद भल भूप भलाई ।
बधु प्रबोध कीन्ह बहुभाँती, बिनु अधार मन तोष न साँती ।
भरत सील गुरु सचिव समाजू, सकुच सनेह बिवस रघुराजू ।
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही, सादर भरत सीस धरि लीन्ही ।
चरनपीठ करुनानिधान के, जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के ।
संपुट भरत सनेह रतन के, आखर जुग जनु जीव जतन के ।
कुल कपाट कर कुसल करम के, बिमल नयन सेवा सुधरम के ।
भरत मुदित अवलंब लहे तें, अस सुख जस सिय-राम रहे तें ।

(तुलसीकृत रामायण से ।)

(१) जब राजा दशरथ की आज्ञा का पालन करने के लिये राम ने वनवास लिया तब सीताजी, जो राम का आधा अंग ही थीं, राम के सुख में सुखी और दुःख में दुखी थीं, राम के साथ गईं । लक्ष्मणजी भी साथ जाने को तैयार हुए । सुमित्रा की ख़ातिर राम ने इन्हें साथ ले जाने में आनाकानी की—

कहा सुमित्राजी ने तब था—"सुनो बात रघुनाथ ,
लछमन को घर छोड़ न जाओ, राखो अपने साथ ,
बिना तुम्हारे यह न यहाँ सुख पावेगा छिन एक ,
दोनों भाई साथ रहो रख धैर्य-धर्म की टेक ,
बचपन में माता व बुढ़ापे में रक्खे सुत धीर ,
तन का दुख लिया ही जाने , रण में दीखे वीर ।"

यह कहकर सुमित्रा ने अपने प्यारे पुत्र को भी राम के साथ भेज दिया। उस समय भरत अपने नाना के घर थे। वहाँ से जब वे लौटे और राम के वनवास और इसी कारण पिता की मृत्यु का हाल सुना तो उन्हें घोर दुःख हुआ और राम को वन से घर लौटा लाने के लिये बूढ़े सारथी सुमन्त्र से रथ जुड़वाकर उनके पीछे गए। उनके साथ वशिष्ठ, शत्रुघ्न, कौशल्या, सुमित्रा और बहुतसी प्रजा गई। जनकपुरी से राजा जनक भी आ गए। चित्रकूट में सब लोग रामचन्द्रजी से मिले। उस समय का वर्णन ऊपर की कविता में किया गया है।

(२) यहाँ पर इन बातों को ध्यान में रखना और विचारना चाहिए—चारों भाइयों का परस्पर स्नेह, भरत की बड़े भाई के प्रति भक्ति, बड़े भाई के योग्य राम का भरत और शत्रुघ्न को उपदेश, कुटुम्ब के साथ गुरु वशिष्ठ और सारथी सुमन्त्र का संबंध, उपकारी अनार्य राजा के साथ राम की मित्रता; ससुर जमाई का संबंध, सास-बहू का संबंध, सौतेली माँ और लड़के का संबंध।

(३) सबके मिलने से कितने स्नेहपूर्ण कुटुम्ब का संगठन हुआ है!

(४) गुरु, मित्र और नौकरों को भी कुटुम्बी जनों के समान समझना चाहिए।

(५) वर्तमान समय में इनमें से जो जो संबंध ख़ास तौर से बिगड़े हुए दीखें, जैसे सौतेली माँ और लड़के का संबंध, सास-बहू का संबंध, उनके सुधारने की ओर विद्यार्थियों का ध्यान ख़ास तौर से दिलाना चाहिए।

(६) कृष्ण-बलराम, कृष्ण-सुभद्रा, कृष्ण-कुंतीजी आदि के स्नेह के उदाहरण देने चाहिएँ। जब दैत्यों (हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु) में भी यह स्नेह होता है तो मनुष्यों में तो अवश्य ही होना चाहिए।

७०—राम और सीता

(लक्ष्मण का प्रवेश)

लक्ष्मण—महाराज की जय हो। उस चित्रकार ने, जैसे कि हमने कहा था वैसे ही आपके चरित्र उन दीवारों पर चित्रित किए हैं, उन्हें चलकर देख लीजिए।

राम—उदास जानकी को प्रसन्न करना कुँवर खूब जानते हैं।

लक्ष्मण—महारानी, देखिए देखिए।

तव पितु निज प्रोहित निपुन, सतानद के संग,
सजन वशिष्ठादिकन को, पूजत सहित उमंग।

राम—ये देखने योग्य हैं।

प्रिय न काहि रघुजनक को, कुल संबंध पवित्र,
करता धरता जहँ सुभग, आपुहि विश्वामित्र।

सीता—और देखिए, ये चारों भाई सगुन सायत से मुंडन कराकर विवाह का कंकन बाँधे उपस्थित हैं—अह! ऐसा जान पड़ता है मानो हम लोग जनकपुर में बैठे हैं और यह वही समय वर्त रहा है।

राम—सुमुखी! बरतत समय यह, होत वही परतीत,
गौतमदेव प्रदत्त जब, तेरो पानि पुनीत।
कंकन भूषित जनु महा, उच्छव को अवतार,
ग्रहन करत प्रफुलित कियो, मोकों बारहिं बार।

लक्ष्मण—देखिए ये आप हैं, ये श्रीमाण्डवी हैं और ये वधू श्रुतकीर्ति हैं।

सीता—और यह दूसरी कौन है ?

लक्ष्मण—(लज्जा से मुसकिराकर आप ही आप) महारानी सीता अब उर्मिला को पूछ रही हैं, सो किसी बहाने यह बात उड़ानी चाहिए (प्रकट) श्रीमती, देखने योग्य इधर है, आइए भगवान् परशुरामजी के दर्शन कीजिए।

सीता—(भय में पड़कर) इनके देखने से तो भय लगता है।

राम—ऋषि महाराज को नमस्कार है।

लक्ष्मण—महारानी, देखो देखो यह महाराज ने ऋषि के धर्म

राम—(आँख से बर्जते हुए) अजी अभी तो बहुत देखने को पड़ा है और ही कहीं से दिखलाओ।

सीता—(स्नेह और आदर से देखकर) आर्यपुत्र, इस विनय बड़ाई से ही आपकी शोभा है।

लक्ष्मण—लीजिए हम सब अयोध्या में आ पहुँचे।

राम—(आँसू भरकर) हा ! मुझे स्मरण है, भली भाँति स्मरण है।

> कपाहे जब सब मात, अछत तात सुखप्रद चरन ,
> मुदित दुलारति मात, कहाँ हमारे ते दिवस !

और तभी की ये जानकी हैं।

> छिटकीं-जिड गोल कपोलन पै, बिखरीं अलक झलकैं घुंघरारीं।
> रद कुंदकली सम बारीसी बैस की, मारी परैं मुख पै छबि प्यारी

सुठि देह सुभाइ-विलासभरी, ससि-र्श्मी खरी जाति लई उजियारी,
निज लोल कलोलनि डोलनि सों, मम मानतु मोद बढ़ावनहारी।

लक्ष्मण—और देखो यह मंथरा है।

राम—(बिना उत्तर दिए और दूसरी जगह दिखाकर) प्यारी वैदेही,

शृंगवेरपुर में वही, यह खिरनी को वृच्छ,
प्रिय निषादपति सों यहाँ, भयो समागम अच्छ।

लक्ष्मण—(हँसकर आप ही आप) देखो महाराज ने मँझली माता का वृत्तांत सब छोड़ दिया।

सीता—देखिए, यहाँ हम लोगों की जटाएँ बाँधी जा रही हैं।

लक्ष्मण—राजपाट दै निज सुतनि, त्यागि जगतजजाल,
वृद्ध समय वन को गए, सूरजबंस भुआल।
वही अनल आश्रयव्रत, पावन पुण्य समाज,
बालपन ही में धर्यो, तुमने श्रीमहराज।

सीता—ये विश्व की वंदना योग्य पुण्यसलिला भागीरथी बह रही हैं।

राम—(चित्र देखकर) माता भागीरथी! आप रघुकुल की देवी हो, मैं प्रणाम करता हूँ।

लक्ष्मण—यह वही श्यामवट है जो भारद्वाज के बतलाए चित्रकूट के मार्ग में कालिंदीतट पर मिला था। अब यहाँ से विंध्याचल के वन का आरंभ हुआ है, वह देखि विराध के संग आपका संग्राम हो रहा है

सीता—इन्हें रहने दीजिए, वह देखिए धूप से बचने के लिये आर्यपुत्र ताड़ के पत्तों का छाता लगाए हम लोगों के साथ दक्षिणारण्य में प्रवेश कर रहे हैं।

लक्ष्मण—यह पंचवटी में सूर्पणखा है।

सीता—हा! आर्यपुत्र! बस यहीं तक आपके दर्शन होंगे!!

राम—प्यारी वियोग से इतना क्यों डरती हो यह तो चित्र है।

सीता—कुछ भी हो दुर्जन से दुःख तो होता ही है।

राम—हाय! जनस्थान की बात तो ऐसी जान पड़ती है मानो अभी हो रही हो।

लक्ष्मण—रचि कनक छल मृग राक्षसहिं, जो कछु कियो दसकंध नै,
भारी कर्‌यो प्रतिकार ताको, हाय! तऊ साखत मनै।
सीय हित तुम विकल अति, जा विजन बन में कियौ,
ताहि सुनि पासान हू रोवत, फटत बज्जुर हियौ॥

सीता—(आँसू भरके) हा! देव रघुकुल आनंदकंद! इतना दुख आपको मेरे ही लिये झेलना पड़ा था!!

(स्व० पंडित सत्यनारायण
के उत्तररामचरित्र से।)

(१) वाल्मीकि कहते हैं—

"रघुकुल कमोद विधु जो न्यायी उदार भारो,
सिय ही सुभाव ही सों निज राम की पियारो।
निज नेह की सलोनी छविका ललाम छाई,
गुन भजु पाइ सिय के पुनि और बढ़ बढ़ाई।

सिय के तथैव सोहे निज प्रान सो हु प्यारे,
अरविंद नैनवारे अवधेश के दुलारे।
जो प्रीति योग तिनको अन्योन्य प्रति सुहायो,
तिहि कहि सके न कोऊ हिय को हिए में भायो।
(प० सत्यनारायण।)

(२) बचपन से जवानी तक, सुख और दुःख की सब अवस्थाओं में, एकरस, सदा एकसा प्रेम—यह पति-पत्नी के स्नेह का सच्चा स्वरूप है, और राम सीता का प्रेम उसका सबसे बढ़िया नमूना है।

(३) प्रजा मे निष्कलंक शुद्धता की और राजाओं में उत्तम राजधर्म की भावना भरने के लिये राम ने सीताजी का त्याग किया था। और जिस समय सीताजी वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश के साथ मौजूद थीं उस समय राम ने अश्वमेध यज्ञ शुरू किया था, उसमें पत्नी की आवश्यकता हुई तब राम ने सोने की सीता बनाकर पास बैठाई, पर दूसरा विवाह न किया। और इस प्रकार जैसे पहले सीता का त्याग करके निष्कलंक पातिव्रत धर्म की भावना जगत् के सम्मुख उपस्थित की थी वैसे ही इस समय सोने की सीता बनाकर दुनिया को दिखला दिया कि केवल एक ही स्त्री से विवाह करना चाहिए।

(४) पति पत्नी के लिये संस्कृत में एक शब्द 'दंपती' है—उसका अर्थ—'दम्' अर्थात् घर, और 'पती' अर्थात् दो मालिक—"घर के दो मालिक" होता है, और यह शब्द हमारे सबसे प्राचीन शास्त्र, ऋग्वेदसंहिता में मिलता है। इससे मालूम होता है कि हमारे धर्म में प्राचीन समय से ऋषियों ने पति-पत्नीसंबंध की उत्तम भावना का उपदेश किया है। ऐसा कभी न समझना चाहिए कि घर का मालिक तो पुरुष ही है और स्त्री तो उसकी दासी है। यह जानना चाहिए कि ऐसी सौत, यदि धर्म से विरुद्ध है और

पाप है। (इस विषय में प्राचीन प्रमाणों को दिखाकर उनमें से जो ठीक जान पड़ें, विद्यार्थियों को बतलाने चाहिएँ।)

(५) "आर्यपुत्र ने अपने हाथ से मेरे सिर पर ताड़ का पत्ता रक्खा था"—ऐसे छोटे छोटे कामों में कैसा स्नेह प्रकट होता है यह विद्यार्थियों को समझाना चाहिए, और स्त्रियों के प्रति—केवल अपनी पत्नी की ओर ही नहीं बल्कि सब स्त्रियों की तरफ़—सम्मान और विनय का बर्ताव करने की शिक्षा देनी चाहिए।

(६) कन्या-पाठशालाओं में—सीता का राम पर कैसा स्नेह था, सावित्री ने मृत्यु के हाथ से भी पति को कैसे छुड़ाया, दमयन्ती राजा नल का वन में कैसा रटन करती थी, मंदोदरी ने रावण को कैसी शिक्षा दी थी, द्रौपदी ने पाण्डवों में कैसा उत्साह भरा था, वगैरह बातें बतलानी चाहिये, और पति के सुख दुःख में भाग लेने और अच्छी शिक्षा देने, व्यवहार में उत्साही बनाने, बीमारी में सेवा-शुश्रूषा (तीमारदारी) करने आदि कर्तव्यों का कन्याओं को उपदेश करना चाहिए।

(७) बालकों की पाठशाला में एकपत्नीव्रत का और कन्याओं की पाठशाला में पातिव्रत धर्म का उपदेश करना चाहिए।

७१—पड़ोसी का स्नेह

किसी सरोवर के किनारे पाँच प्राणी रहते थे—दक्षिण की ओर एक पिंडरा, पश्चिम की ओर एक पिंडरी, उत्तर की तरफ़ एक सिंह, पूर्व की तरफ़ एक गरुड़ और सरोवर के बीच में एक कछुवा। पिंडरे ने अपने साथ विवाह करने के लिये पिंडरी से कहा। पिंडरी ने पूछा—"यह तो ठीक है, पर तुम्हारा कोई मित्र भी है?" पिंडरे ने जवाब

दिया—"नहीं।" पिंडखी ने कहा—"तब जाओ, कुछ मित्र बनाओ, फिर मुझसे विवाह करना।" पिंडखा बोला—"किसे मित्र बनाऊँ?" इस पर पिंडखी ने कहा—"इसमें क्या पूछना है, अपने अड़ोसी-पड़ोसियों को।" पिंडखी की सलाह मानकर पिंडखे ने सिंह, गरुड़ और कछुवे के साथ मित्रता की और फिर पिंडखी के साथ विवाह किया।

पिंडखी के दो बच्चे हुए। एक दिन एक मछुवा मछली और कछुवे पकड़ने के लिये सरोवर के किनारे आया। किनारे पर मच्छर बहुत थे इसलिये उसने कुछ सरकंडे इकट्ठे करके सुलगाए। उनका धुवाँ पिंडखों के बच्चों की आँख में गया और वे चिल्लाए। वह मछुवा भूखा तो था ही, उनकी आवाज़ सुनकर सोचने लगा—"यह ठीक है; मछली पकड़ने की मिहनत कौन करे? चलो इन बच्चों को ही पकड़ लें।" पिंडखी ने यह बात सुनी तो गरुड़ से मदद माँगने गई। गरुड़ ने कहा—"भाभी, कुछ फ़िक्र मत करो।" मछुवे ने मांस पकाने के लिये आग चेताई और ज्यों ही पेड़ पर चढ़ने चला त्यों ही गरुड़ ने अपने पंख भिगोकर आग पर झपट्टा मारा जिससे आग बुझ गई। वह मछुवा आधी दूर से लौटा और फिर आग सुलगाई और पेड़ पर चढ़ने गया, लेकिन गरुड़ ने फिर आग बुझा दी। ऐसा करते करते आधी रात हो गई और गरुड़ थक

गया। पिडखी ने पिडखे से कहा—"अब गरुड़ को आराम दो और कछुवे को जगाओ।" पिडखे ने गरुड़ से आराम करने को कहा, परंतु उसने उत्तर दिया—"नहीं, मैं आग बुझाने का काम नहीं छोड़ूँगा।" पिडखा कछुवे को बुला लाया। कछुवे ने किनारे पर ऐसी धूल और कीचड़ उड़ाई कि आग बुझ गई। कछुवे को देखकर मछुवा उसे पकड़ने दौड़ा, परंतु वह पानी में भाग गया। मछुवा पानी में उतरा पर वहाँ इतनी कीचड़ थी कि उसमें उसके पैर फँसने लगे, इससे वह पीछे लौट आया। रात बहुत हो गई थी इसलिये उसने निश्चय किया कि सवेरा होते ही पक्षी के बच्चों को घर ले जाऊँगा। पिडखी यह बात समझ गई और पिडखे से बोली—"अब तो तब ठीक हो जब सिंह से अपना दुःख कहो।" पिडखा तुरंत सिंह के पास गया और अपने संकट का सब हाल कहा। सिंह ने पिडखे को हिम्मत दिलाई और कहा—"बिलकुल बेफिक्र रहो, मैं देख लूँगा कि मछुवा सवेरे कैसे सरोवर के किनारे रहता है।" सवेरा होते ही मछुवे ने आँख मींजते मींजते उस पेड़वाले पक्षी के घोंसले को देखा, इतने ही में सिंह पास ही दहाड़ा। सिंह का गर्जन सुनते ही मछुवा जान लेकर भागा और फिर कभी उस सरोवर पर नहीं गया।

(१) मनुष्य को दुनिया में अकेला नहीं रहना चाहिए—मित्र बनाने चाहिएँ जो संकट के समय काम आवें।

(२) मित्र केवल संकट के समय ही काम नहीं आते, वे सुख दुःख के वेग को निकालने के भी स्थान हैं।

(३) अड़ोसी पड़ोसी के साथ मित्रभाव रखना चाहिए। आपस के कष्ट के समय काम आना चाहिए।

(४) एक तरफ़ की दीवार खड़ी करने, खिड़कियाँ निकालने, खपरेल के सिरे और बीच की सोट लगाने वगैरह मामलों में अड़ोसी पड़ोसी लड़ा-झगड़ा करते हैं और एक दूसरे के दरवाज़े पर कूड़ा डालने में नहीं हिचकते, ज़रा ज़रासी बात पर आपस में लड़ते हैं, गाली गलौज करते हैं और अदालत जाते हैं—पड़ोसियों के ऐसे, अनुचित कामों की निंदा करनी चाहिए, और, अगर वे मिलजुलकर रहें तो गली का कितना सुधार कर सकते हैं, इत्यादि लाभ और कर्तव्य बतलाने चाहिएँ।

७२—चंदनदास और राक्षस

अथवा

मित्रस्नेह

राक्षस—(आवेग से, आप ही आप) अरे इसके मित्र विष्णुदास का प्रिय मित्र तो चंदनदास ही है, और यह कहता है कि सुहृद्विनाश ही उसके विनाश का हेतु है! इससे तो यही जाहिर होता है कि चंदनदास पर आफत पड़ी है जिससे विष्णुदास आग में जला मरता है। (प्रकट) भाई, तुम्हारे प्रिय मित्र का उज्ज्वल चरित्र म विस्तार के साथ सुना चाहता हूँ।

पुरुष—आर्य, क्षमा कीजिए, अब मैं मंदभाग्य मरण में अधिक विघ्न सहने में असमर्थ हूँ।

राक्षस—कहो भाई, कहो, सुनने योग्य बात है—ऐसा क्यों करते हो?

पुरुष—राम! राम!! अच्छा कहता हूँ, सुनिए—आर्य—

राक्षस—भाई, मैं तो तैयार बैठा हूँ—

पुरुष—इस नगर में एक सेठ चंदनदास नाम का जौहरी है।

राक्षस—(सोच में पड़कर, आप ही आप) दैव ने हमारे दु:ख का द्वार इस प्रकार खोला। हृदय! कठिन हो जा। तुझे एक मर्मभेदी बात सुननी है। (प्रकट) हाँ, वह मित्रवत्सल सत्पुरुष विख्यात है। उसका क्या?

पुरुष—वह विष्णुदास का प्राणप्रिय मित्र है।

राक्षस—(आप ही आप) हा! यह शोक का वज्र कड़कड़ाता आ गिरा।

पुरुष—इसलिये विष्णुदास ने मित्रस्नेह के अनुरूप आज चंद्रगुप्त से प्रार्थना की।

राक्षस—क्या?

पुरुष—कि महाराज, मेरे घर में कुटुंब के निर्वाह योग्य जो कुछ द्रव्य है वह ले लो और मेरे मित्र चंदनदास को छोड़ दो।

राक्षस—(आप ही आप) धन्य है विष्णुदास! कैसा अपूर्व मित्रस्नेह दिखलाया है!

जा धन के हित नारी तजै पति पूत तजै पितु सीलहि खोइ,
भाई सों भाई लरै रिपुसे पुनि मित्रता मित्र तजै दुख जोइ।

ता धन को बनिया है गिन्यौ न दियौ दुख मीत सों आरत होई ,
स्वारथ अर्थ तुम्हारोई है तुमरे सम और न या जग कोई ।

(हरिश्चंद्र ।)

(प्रकट) उसके ऐसा कहने पर मौर्य ने क्या उत्तर दिया ?

पुरुष—आर्य, इस प्रकार जब सेठ विष्णुदास ने प्रार्थना की तब चंद्रगुप्त ने उत्तर दिया—"हमने इसे धन के लिये नहीं कैद किया है, बल्कि इसलिये किया है कि इसने मंत्री राक्षस का कुटुंब छिपा रक्खा है और बहुत कहने पर भी नहीं देता । अब भी यह दे दें तो छूट जाय नहीं तो फाँसी पर चढ़ेगा ।" ऐसा कह चंदनदास को फाँसीघर ले जाने की आज्ञा दी। तब यह सोचकर कि चंदनदास के बुरे समाचार कान में पड़ें उससे पहले ही चिता तैयार कर उसमें जल मरना अच्छा होगा, सेठ विष्णुदास नगर छोड़कर चले गए , और मैं भी इस पुराने बगीचे में इसलिये आया हूँ कि प्राणप्रिय मित्र विष्णुदास के बुरे समाचार कान में पड़ें उससे पहले ही फाँसी लगाकर अपने प्राण दे दूँ ।

राक्षस—है ! चंदनदास को सूली दी गई ?

पुरुष—हाँ दे दी गई होगी या दी जानेवाली होगी । अब भी उससे मंत्री राक्षस का कुटुंब देने के लिये बार बार कहते हैं, पर वह मित्रवत्सल सेठ मानता नहीं, शायद इसी कारण से उसका मरण अभी तक रुका हो तो रुका हो ।

राक्षस—(हर्ष के साथ, आप ही आप)

मित्र परोच्छहु में कियो, सरनागत प्रतिपाल।
निरमल जस सिबि सो लियो, तुम या काल कराल।

(हरिश्चंद्र।)

(प्रकट) भाई, जाओ जाओ जल्दी जाकर तुम विष्णुदास को जल मरने से रोको, मैं चंदनदास को अभी छुड़ाता हूँ।

पुरुष—पर आर्य, आप किस उपाय से चंदनदास को छुड़ाइएगा?

राक्षस—(तलवार खींचकर) इससे! इससे! देखो इस साहस के साथी को—

समरसाध तन पुलकित नित साथी मम कर को,
रन महँ बारहिं बार परिच्छयो जिन बल पर को।
बिगत जलद नभ नील खड्ग यह रोस बढ़ावत,
मीत कष्ट सों दुखिहु माँहि रन हित उमगावत।

(हरिश्चंद्र।)

पुरुष—तो क्या राक्षस शुभ नामधारी मंत्री आप ही हैं? आर्य, सेठ चंदनदास का जीव बचाने से समझ में तो ऐसा ही आता है पर विषम दशा के कारण पक्की तौर से कुछ कहा नहीं जा सकता। कृपा करके मेरा संदेह मिटाइए। (पैरों पर गिरता है)

राक्षस—हाँ भाई, मैं ही हूँ स्वामी का सत्यानाश देखनेवाला, मित्र का प्राण लेनेवाला, राक्षस नाम सार्थक करनेवाला, अशुभ नामवाला राक्षस मैं ही हूँ।

पुरुष—(हर्ष के साथ पैरों पर गिरकर) भला, मेरा बड़ा

भाग्य जो भगवान् की कृपा से आर्य का दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हुआ।

राक्षस—उठो उठो भाई वृथा समय न गँवाओ। जाओ और विष्णुदास से कहो कि राक्षस चंदनदास को मौत से छुड़ाता है।

('समरसाध' इत्यादि कहकर नंगी तलवार हाथ में लिए घूमता है)

पुरुष—क्षमा करो मंत्रीजी, पहले दुरात्मा चंद्रगुप्त ने आर्य शकटदास के लिये सूली की आज्ञा की थी। उसको जल्लाद लोग वधस्थान में ले जाकर सूली देते थे कि इतने ही में न जाने कौन आया और शकटदास को लेकर परदेस भाग गया। इसलिये "इन्हीं कंवख्तों को मारो, क्यों इन्होंने गफलत की" यों कहकर दुरात्मा चंद्रगुप्त ने आर्य शकटदास का क्रोध जल्लादों पर उतारा और उन्हें सूली दिलवा दी। तब से जल्लाद लोग अपने आगे पीछे किसी हथियारवाले अपरिचित मनुष्य को देखकर अपने प्राण बचाने की खातिर सूलीवाले को वहीं खतम कर देते हैं। इसलिये, मंत्रीजी, अगर आप हथियार लेकर पधारेंगे तो चंदनदास का वध और भी जल्दी होगा। (गया)

राक्षस—नहिं शास्त्र को यह काल यासों मीत जीवन जाइहै।
जौ नीति सोचैं या समय तो व्यर्थ समय नसाइहै।
चुप रहन हूँ नहिं जोग जब मम हित विपति चंदन परयौ।
तासों बचावा प्रियहि अब हम देह निज विक्रय करयौ।

(जाता है) (हरिश्चंद्र।)

[२]

(सूली के साथ वध्य के वेष में स्त्री पुत्र सहित, चांडाल वेणुवेत्रक के साथ में चंदनदास प्रवेश करता है)

स्त्री—(आँखों में आँसू भरकर) जो हम लोग अपनी बात बिगड़ने के डर से नित्य फूँक फूँककर पैर धरते थे उन्हीं को आज चोरों की तरह मरना पड़ता है—भाग्य को नमस्कार है। ठीक है, निर्दयी के लिये तो सभी एकसे हैं। इसीलिये तो—

छोड़ि मास भख मरन भय जियहिं खाय तृन घास,
तिन गरीब मृग को करहिं निरदय व्याधा नास।

(हरि० ।)

(चारों ओर देखकर) अरे विष्णुदास ! विष्णुदास ! क्या मुझ उत्तर भी नहीं देते ? ठीक है, ऐसे समय में विरला ही ठहर सकता है।

चंदन०—(सजल नेत्र) देखो, देखो, अपने को अकर्मण्य समझ शोक से सूखा रूखा मुँह किए आँसूभरी आँखों से एकटक मेरी ही ओर देखते हमारे पीछे पीछे चले आते हुए हमारे मित्र को !

वेणुवेत्रक—अजी चंदनदास, सूली देने की जगह आ गई इसलिये अब तुम स्त्री और पुत्र को बिदा करो।

चंदन०—प्रिये, लड़के को लेकर लौट जाओ, अब साथ चलना ठीक नहीं।

तथा क्रोध का प्रसंग आवे तो उससे डरना न चाहिए। मित्रता में सच्चा, शुद्ध और खुला हुआ मन आवश्यक है।

(४) अच्छी अच्छी कथाओं में से बालकों को अच्छे मित्रों के उदाहरण देने चाहिएँ।

७३—मालिक और नौकर

पहले रोम में सैक्स नाम का एक धनाढ्य मनुष्य रहता था। उसके यहाँ बहुतसे गुलाम थे। सैक्स को किसी जुर्म में मौत की सज़ा दी गई और सिपाही उसे पकड़ने के लिये आए। सैक्स घर में ऐसी जगह छिप गया था कि किसी को भी न मिल सके। सिपाहियों ने गुलामों से पूछा, परंतु उन्होंने उसके छिपने की जगह न बतलाई। इसलिये उन पर सिपाहियों ने बुरी तरह जुल्म करना शुरू किया, पर वे टस से मस न हुए। उनका चिल्लाना सुनकर उनके मालिक का हृदय भर आया और वह तुरंत छिपी जगह से निकलकर सिपाहियों के सामने आ गया।

मालिक और नौकर में ऐसा स्नेह होना चाहिए। कोई अमीर के कुल में जन्म लेता है, कोई दरिद्र के कुल में, कोई ज्यादा कमाता है, कोई कम,—इसी से मालिक और नौकर का संबंध जुड़ता है। पर असल में सभी मनुष्य हैं और ईश्वर की दृष्टि में समान हैं। हिंदूधर्मशास्त्र में ईश्वर को भोग लगाकर भोजन करने की, और नौकरों को खिला

कर खाने की महिमा बराबर कही है—इससे मालूम होता है कि नौकरों के साथ हमें किस प्रकार का बर्ताव करना चाहिए।

(१) मालिक को नौकर के साथ सभ्यता, प्रेम और आदर का बर्ताव करना चाहिए।

(२) नौकरों को वेतन, भोजन, कपड़े आदि जो कुछ उससे ठहरा हो, खुशी से देना चाहिए।

(३) उन्हें काफ़ी आराम देना चाहिए।

(४) भूख, प्यास, प्रेम, सबमें समान होते हैं, इसलिये उन्हें रिश्तेदारों और इष्टमित्रों से मिलने-जुलने की छुट्टी देनी चाहिए।

(५) उनकी बीमारी में अथवा कोई दूसरी विपत्ति पड़ने पर उनके काम आना चाहिए। मतलब यह है कि उनको अपना कुटुंबी समझकर उनके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए।

(६) "नौकरों का पसीना सूखने से पहले ही तू उनकी मज़दूरी दे दे।"

—हज़रत मोहम्मद

"नौकर को खिलाकर तब गृहस्थ को खाना चाहिए।"

—महाभारत

(७) जैसे मालिक के कर्तव्य नौकर के प्रति हैं वैसे ही नौकर के मालिक के प्रति हैं (देखो "पशु की स्वामिभक्ति")

७४—गुलाम और कुत्ता

एक दिन इमामहसन साहब मदीने से बाहर खजूर के एक बाग़ में होकर जा रहे थे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक

हबशी गुलाम बैठा हुआ रोटी खा रहा है और एक कु
सामने खड़ा है। गुलाम एक टुकड़ा आप खाता औ
दूसरा कुत्ते को देता। यह देख इमामहसन साहब ने गुल
से पूछा—"तू अपनी थोड़ीसी रोटियों में से इस कुत्ते
क्यों देता है?" उसने उत्तर दिया—"मुझे इस बात से श
मालूम होती है कि मैं तो पेट भरूँ और यह गूँगा दे
जानवर जो खड़ा खड़ा मेरा मुँह देख रहा है, वैसा
भूखा रह जाय।" इमामहसन ने यह सुनकर अपने मन
कहा—"अफसोस की बात है कि ऐसा नेक आद
गुलाम हो!" फिर उन्होंने उससे पूछा—"तेरे मालि
का क्या नाम है?" गुलाम ने जवाब दिया—"मेरे मालि
का नाम है आबान वल्द उस्मान और वह मदीने में रह
है।" इमामहसन साहब यह सुनते ही फौरन् आबान
पास आए और बोले—"आबान, मेरी एक प्रार्थना है, उ
स्वीकार करोगे या नहीं?" यह सुनकर आबान ने विन
पूर्वक कहा—"साहब, आप तो हमारे पैग़म्बर के धेवते
आप जो आज्ञा करेंगे, मैं खुशी से स्वीकार करूँगा
इमामहसन ने कहा—"अच्छा, तो उस खजूरवाले ब
को, मय उस गुलाम के जो उसकी रखवाली करता
मुझे दे दो, और जो क़ीमत कहो मैं देने को तैयार हूँ
आबान ने कहा—"मैं बिना क़ीमत ही आपकी भेंट क

करता।" अंत में आवान की क़ीमत लेनी पड़ी। इमामहसन साहब इस मामले को तय करके तुरन्त उस गुलाम के पास आए और उससे कहा—"मैंने तुझे और इस बाग़ को तेरे मालिक से खरीद लिया है, अब तुझे मैं गुलामी से मुक्त (रिहा) करता हूँ और यह बाग़ तुझे इनाम में देता हूँ।"

(१) घर के पालतू पशु पक्षियों को कुटुंबियों के समान समझकर उन पर स्नेह रखना चाहिए।

(२) जब देवता युधिष्ठिर को स्वर्ग देने लगे तो उसने कहा—"मैं अपने इस कुत्ते के बिना वहाँ नहीं आ सकता।" वह कुत्ता वनवास में पाण्डवों के साथ रहा था। (इस विषय में देखो इसी पुस्तक का पाठ १४१)

(३) सीताजी ने वन में पशु पक्षियों को भी—हाथी के बच्चों, हिरन और मोरों को ही नहीं बल्कि वृक्षों, कदम इत्यादि को भी—अपने पुत्रों की भाँति पाला था। (देखो उत्तररामचरित्र)

७५—वचनामृत

(१) पिता-पुत्र (माता पिता और लड़कों) के धर्म—

माता पिता को चाहिए कि—

(क) बालकों को दुर्गुणों से बचावें।

(ख) सद्गुण के मार्ग पर चलावें

(ग) विद्या और कारीगरी

(घ) योग्य वर अथवा कन्या के

(ङ) उन्हें वारिस बनावें,

बालकों को कहना चाहिए कि—

(क) जिन्होंने मेरा पालन पोषण किया है उनका मैं पालन पोषण करूँगा।

(ख) उनके घर और व्यवहारसबंधी कार्यों को अपने ऊपर लूँगा।

(ग) उनकी जायदाद की रक्षा करूँगा।

(घ) उनका वारिस समझा जाने के योग्य बनूँगा।

(ङ) उनकी मृत्यु के बाद उनका आदरपूर्वक स्मरण करूँगा।

(२) गुरु शिष्य के धर्म—

शिष्य को गुरु का इस प्रकार सम्मान करना चाहिए कि—

(क) उनकी मौजूदगी में खड़ा रहे।

(ख) उनकी सेवा करे।

(ग) उनकी आज्ञा माने।

(घ) उनकी आवश्यकताएं पूरी करे।

(ङ) उनका उपदेश ध्यान में रक्खे।

गुरु को शिष्य की तरफ़ ऐसे भाव रखने चाहिएं कि—

(क) सपूर्ण उत्तम शिक्षा देना।

(ख) दृढ़ता से विद्या धारण करना सिखाना।

(ग) शास्त्र पढ़ाना।

(घ) उसके मित्र तथा संगी-साथियों के सामने उसकी प्रशंसा करना।

(ङ) उसे भय में पड़ने से बचाना।

(३) पति पत्नी के धर्म—

पति को पत्नी के लिये ऐसे भाव दिखलाने चाहिएँ—

(क) उससे इज़्ज़त के साथ बर्ताव करना।

(ख) स्नेह का बर्ताव करना।

(ग) सचा रहना।
(घ) दूसरा से आदर कराना।
(ङ) उसकी आवश्यकताएँ पूरी करना।

पत्नी को पति की तरफ इस प्रकार प्रेम रखना चाहिए—
(क) गृहव्यवस्था (घर का प्रबंध) ठीक रखना।
(ख) रिश्तेदारों की खातिरदारी करना।
(ग) पवित्र रहना।
(घ) किफ़ायत से काम चलाना।
(ङ) जो कुछ करना, चतुराई और मेहनत से करना।

(४) मित्र के धर्म—

भले आदमी को मित्र के साथ यों बर्ताव करना चाहिए—
(क) प्रीतिदान देना (प्रेम रखना)।
(ख) प्रिय वाणी बोलना।
(ग) हित करना।
(घ) अपने बराबर समझना।
(ङ) अपने सुख में शामिल करना।

बराबर के मित्र को अपना प्रेम इस प्रकार प्रकट करना चाहिए—
(क) मित्र असावधान हो तो उसकी देखभाल रखना।
(ख) वह लापरवा हो तो उसकी जायदाद की रक्षा करना।
(ग) संकट के समय उसे आश्रय देना।
(घ) दुःख में उसके पास रहना।
(ङ) उसके कुटुंब पर स्नेह रखना।

(५) स्वामी और दास के धर्म—

स्वामी (मालिक) को दास (नौकर) के भले के लिये ऐसा बर्ताव करना चाहिए—
(क) उसकी शक्ति के अनुरूप काम सौंपना।

(ख) उचित आहार तथा वेतन देना।

(ग) बीमारी में तीमारदारी करना।

(घ) मिठाई और पकवान में हिस्सा देना।

(ङ) समय समय पर छुट्टी मनाने देना।

दास को स्वामी की तरफ़ इस तरह भक्ति दिखलानी चाहिए—

(क) स्वामी के जगने से पहले उठना।

(ख) उसके सो जाने के बाद सोना।

(ग) स्वामी जो दे उसमें संतोष करना।

(घ) आनंद से पूरा पूरा काम करना।

(ङ) स्वामी की प्रशंसा करना।

(६) गृहस्थों और साधुओं के परस्पर धर्म—

आर्य गृहस्थजन को भिक्षुकों और ब्राह्मणों (साधुओं) की इस प्रकार सेवा करनी चाहिए—

(क) व्यवहार में प्रीति से बर्ताव करना।

(ख) वाणी में प्रीति से बर्ताव करना।

(ग) मन में प्रीति से बर्ताव करना।

(घ) शीघ्र स्वागत करना।

(ङ) उनकी सांसारिक आवश्यकताएँ पूरी करना।

साधु को गृहस्थ के साथ इस तरह बर्ताव करना चाहिए—

(क) दुराचार से दूर रखना।

(ख) सदाचार की ओर झुकाना।

(ग) कृपा रखना।

(घ) धर्म का उपदेश करना।

(ङ) शंका का समाधान करना और स्वर्ग का मार्ग बतलाना।

—भगवान् गौतम बुद्ध

"रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।"

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूताः
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे
भवन्ति भूयः कृतिनः सुरत्वात्।"

"वहूनामल्पसाराणां समवायो दुरत्ययः
तृणैर्विधीयते रज्जुर्वध्यन्ते तेन दन्तिनः।"

७६—राजभक्ति

हैहयकुल के क्षत्रियों में सहस्रार्जुन कार्तवीर्य नाम का एक राजा था। वह इतना बलवान् था कि कहा जाता है कि उसके एक हजार हाथ थे। एक समय मित्रों सहित वह नर्मदा नदी में स्नान कर रहा था। पास ही रावण के डेरे थे। वे सहस्रार्जुन की जलक्रीड़ा से भीग गए। रावण नाराज होकर उसके साथ लड़ने आया। जैसे मनुष्य कबूतर को पकड़ता है वैसे ही सहस्रार्जुन ने रावण को पकड़कर क़ैदख़ाने में डाल दिया और अंत में जब उसने बड़ी आर्जू-मिन्नत की तब छोड़ा। इस बात से तुम्हें यह पता चलेगा कि सहस्रार्जुन कितना बलवान् था।

यह सहस्रार्जुन राजा एक दिन वन में शिकार खेलते खेलते जमदग्नि ऋषि के आश्रम के पास जा निकला। ऋषि के यहाँ एक कामधेनु गाय थी जिसके प्रताप से ऋषि ने राजा, मंत्री और सारे लश्कर की बड़ी ख़ातिर की। ऋषि की दौलत देखकर राजा को ईर्षा हुई और उसने सिपाहियों को ऋषि की गाय जबरदस्ती अपने महल को ले जाने की आज्ञा दी। सिपाही बछड़े के साथ जोर से रँभाती हुई कामधेनु को जबरदस्ती सहस्रार्जुन की राजधानी माहि-

ष्मतीनगरी को ले गए। पीछे राजा भी आश्रम में से निकल-कर अपने नगर की ओर रवाना हुआ। इतने में जमदग्नि के पुत्र परशुराम आश्रम में आए और राजा के अत्याचार का हाल सुना। वे क्रोध से लाल हो गए और तुरत अपना मुख्य हथियार फरसा और धनुष-बाण लेकर सहस्रार्जुन के पीछे दौड़े। राजा नगर में घुसा ही चाहता था कि परशुराम ने उसे पकड़ लिया। नगर के समीप सहस्रार्जुन और परशुराम में घोर युद्ध हुआ। जिस प्रकार पैरतले दबने से सर्प झल्ला जाता है उसी प्रकार परशुराम झल्ला उठे। एड़ी से चोटी तक उनके शरीर में आगसी लग गई। उन्होंने क्षणभर में सहस्रार्जुन के हज़ार हाथ पेड़ की डालियों की तरह काट डाले। सहस्रार्जुन युद्ध में मारा गया और परशुराम पिता की गाय घर लाए। जब उन्होंने अपने पराक्रम का वृत्तान्त पिता को सुनाया तो जमदग्नि को बड़ा खेद हुआ। बोले—"हे राम! हे राम! हे महा-बाहो! तुझे ऐसा काम नहीं करना चाहिए था। हम ब्राह्मण हैं और क्षमा के कारण ही पूज्य बने हैं। क्षमा का ब्रह्मतेज सूर्यतेज के समान है। भगवान् श्रीहरि भी क्षमा-वतों से तुरत प्रसन्न होते हैं। इसके सिवा राजा में तो सब देवतों का निवास होता है और उसके मारने का पाप ब्रह्महत्या से भी ज्यादा है, इसलिये हे राम, तू भगवान् का स्मरण करता हुआ तीर्थयात्रा करके इस पाप को धो।"

(१) "सेर को सवा सेर" मिल ही जाता है। रावण को सहस्रार्जुन मिला, सहस्रार्जुन को परशुराम मिले। परंतु शारीरिक बल की तुलना नैतिक बल के साथ नहीं हो सकती। इसी कारण परशुराम का तेज राम के तेज में समा गया था।

(२) जमदग्नि की क्षमावृत्ति देखो। आगे चलकर "शमीक और परीक्षित" की कथा आवेगी, उसमें भी ऋषि ने पुत्र को जो शिक्षा दी है, वह देखना।

(३) राजा में सपूर्ण प्रजा का हित मूर्तिमान् होता है, इसलिये किसी को अपनी निजी हानि के कारण राजा से द्वेष रखना उचित नहीं। राजा के बारे में मनुजी क्या कहते हैं सो सुनो—

"जब लोक में कोई राजा न था, और वह चारों ओर भय से भागता फिरता था, तब सबकी रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा की सृष्टि की।

—इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर, इन सब देवों का अविनाशी अंश लेकर राजा की सृष्टि की।

मनुष्य होने के कारण राजा छोटा समझा जाय तो भी उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि मनुष्यरूप में वह महान् दैवी शक्ति है।

राजा पुरुषदंड (शिक्षा) है, वह नेता है, वह शास्ता (उपदेष्टा, नियामक) है, वह चारों आश्रमों के धर्मों का प्रतिनिधि है।"

—मनुस्मृति

(४) यह बात सच है कि वेन राजा का ऋषियों ने वध किया था, पर वह सारी प्रजा के ऊपर कैसा जुल्म करता था, और "मैं ही ईश्वर हूँ" ऐसा मानने के लिये लोगों पर जुल्म करके वह किस प्रकार धर्म का पाया उलट देना चाहता था, ये सब बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ।

(५) यहाँ पर राजा के बारे में जो कुछ कहा गया है वही राज्य (राजासमेत कुल हाकिमों) के लिये भी लागू है, क्योंकि मनुजी की बतलाई हुई राजा की देवमयता समस्त राज्य में फैली हुई समझनी चाहिए।

(६) पक्षी भी जब एक राजा से घबड़ा गए तब उन्हें दूसरा राजा बनाना पड़ा था। ईसप की इस कथा को बालकों को बतलाना चाहिए, और इतिहास का अधिक ज्ञान रखनेवाली क्लास को दृष्टांत देकर यह समझाना चाहिए कि अराजकता और राजकीय उथल-पुथल से, अर्थात् राजाओं के उलट फेर से, साथ ही वेनसरीखे अत्याचारी राजा या हाकिमों से देश को कितना नुकसान पहुँचता है।

(७) यह बात नहीं है कि राजा का प्रजा की तरफ़ कोई कर्तव्य न हो। जैसा भगवद्गीता में कहा है कि मनुष्यों को देवताओं को संतुष्ट करना तथा देवताओं को मनुष्यों को संतुष्ट करना चाहिए, वैसे ही सर्वदेवमय राजा को प्रजा को संतुष्ट रखना और प्रजा को राजा को संतुष्ट रखना चाहिए—"राजा प्रकृतिरञ्जनात्।"

७७—श्रीमन्महाराजा साहब श्रीसयाजीराव

महाराज सयाजीराव का जन्म, श्रीदामाजीराव गायकवाड़ के भाई श्रीप्रतापराव के वंश में, तारीख १७ मार्च सन् १८६३ को खानदेश के एक ग्राम में हुआ था। उनका नाम पहले गोपालराव था। सन् १८७५ ई० में अँगरेज़ी सरकार ने श्रीमल्हारराव गायकवाड़ को अयोग्य ठहराकर गद्दी से उतार दिया और श्रीखंडेराव गायकवाड़ की रानी श्रीमती जमनाबाई को गोद लेने का अधिकार दिया।

राजप्रबंध करने के लिये सर टी० माधवराव नाम के एक सुचतुर मंत्री मुक़र्रर किए गए। महारानी जमनाबाई ने गायकवाड़ कुटुंब के बहुतसे लड़कों को देखा और बहुत सोच-विचारकर अंत में इन्हीं महाराज को गोद लेना पसंद किया। उस समय आपकी उम्र केवल चार वर्ष की थी। "श्री तृतीय गायकवाड़" के नाम से ता० २७ मई सन् १८७५ को आप गद्दी पर बैठे।

इन्हें शिक्षा देने के लिये अँगरेजी सरकार ने मि० इलियट नाम के एक अफसर को मुक़र्रर किया। उनके पास महाराज साहब ने बड़ी योग्यता से अभ्यास किया। दूसरे विषयों के अलावा उन्होंने तत्त्वज्ञानजैसा कठिन विषय भी पढ़ा, तथा अँगरेज़ी, मराठी और गुजराती भाषाएँ भी सीखीं। उन्होंने सर टी० माधवराव, खानबहादुर क़ाज़ी शहाबुद्दीन आदि अफसरों के साथ बैठकर राज्य-शासन के जुदे जुदे विभागों का ऐसा उत्तम ज्ञान प्राप्त किया और दीवानी, फौजदारी, माल इत्यादि के नियमों और क़ायदों का ऐसा गहरा अभ्यास किया कि यह कहना बेजा नहीं कि इस मामलों में उनका ज्ञान राज्य के सब अफसरों से बढ़ गया। शिक्षाकाल में महाराजा साहब ने तरह तरह की शारीरिक कसरतें और खेल कूद पर भी पूरा पूरा ध्यान रक्खा। आप गायकवाड़ वंश की "जीन पर ज़ीन, तख्त" कहावत के मुताबिक बड़े

बढ़िया घुड़सवार हैं और तैरने, शिकार खेलने वगैरह में भी कुशल है। इतना ही नहीं, आपने देशी चाल की कसरत कुश्ती का भी पूरा पूरा अभ्यास किया है और फौजी क़वायद भी सीखी है।

महाराज को छोटी उम्र से ही तत्त्वज्ञान का शौक़ था और इसीलिये खानदेश के एक छोटे गाँव से आकर बड़ोदाजैसे बड़े राज्य की गद्दी पर बैठना उन्हें ईश्वरीय विधान मालूम होता है। हमेशा उनकी धार्मिक वृत्ति अपनी प्रजा का कल्याण करने की तरफ ही रहती है।

उन्होंने प्रजा के भले के इतने अधिक काम किए हैं कि उन सबका यहाँ गिनाना असंभव है, तो भी उनके आज तक के शासनकाल के कामों के चार विभाग कर हर विभाग के खास खास काम संक्षेप में नीचे दिए जाते हैं—

(१) सन् १८८२ ई० से सन् १८८६ तक—इस समय में महाराज ने अपने राज्य का प्रबंध ब्रिटिश राज्य के ढंग का किया, शिक्षा को सब सुधारों की जड़ समझकर 'बड़ोदा कालिज', स्त्री और पुरुष शिक्षकों के लिये 'ट्रेनिंग कालिज', और अछूतों के लिये पाठशालाएँ स्थापित कीं। 'डफरिन हॉस्पिटल', तथा बड़ोदे के लोगों को स्वच्छ पानी देने के लिये आजवा में "श्री सयाजी सरोवर", तथा बड़ोदे में लोगों के फायदे के लिये बाग, सड़कें और बड़ी बड़ी इमारतें बनवाईं।

(२) सन् १८८७ से सन् १८९६ तक—महाराज साहब ने १८८७ में मई के अंत में विलायत की यात्रा की। हालाँकि पहली बार तो आप आराम के लिये तथा तंदुरुस्ती ठीक करने के लिये ही गए थे पर उसमें उन्हें इतना बड़ा फायदा दीखा कि तब से वे बहुतसे विद्यार्थियों को पढ़ने के लिये भेजते हैं, स्वयं बार बार पृथ्वी के जुदे जुदे स्थान देखने के लिये जाते हैं और सदा लोगों की भलाई की नई नई तरकीबें ढूँढ़ लाते हैं जिनसे प्रजा का दिन पर दिन अधिक हित होता है। इस पहली यात्रा से उन्होंने यह बात सीखी कि हमारा देश बहुत गरीब है और इसका कारण यह है कि प्रजा में से ज्यादातर लोग अपढ़ और ज्ञानरहित हैं, इसलिये मामूली शिक्षा का लोगों में अधिक प्रचार करना चाहिए और साथ ही कारीगरी की शिक्षा की ओर भी ध्यान देना चाहिए। महाराज साहब की आदत है कि जो काम आपको ठीक और जरूरी जान पड़ता है उसमें आप बेफ़ायदे ढील नहीं करते। इससे आपने तुरंत 'कलाभवन' की नींव डाली तथा अमरेली प्रांत में जाँच के तौर पर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा जारी की। देशी भाषा के साहित्य को तरक्क़ी देने के लिये भी अच्छी रकम दी, म्युनिसिपैलिटियों के नियम बनाए, अस्पताल स्थापित किए और डाक्टर मुक़र्रर किए।

(३) सन् १८९७ से सन् १९१० तक—इस समय महा-

राजा साहब का ध्यान देश की अनेक बुरे रीति-रिवाजों की तरफ तथा प्रजा को स्वाश्रयी और स्वतंत्र बनाने की तरफ गया। कुटुम्बजीवन सुधारने के लिये उन्होंने बाल विवाह रोकनेवाले तथा अन्य जनसमाज के हित करनेवाले क़ानून बनाए। प्रजा को तंग करनेवाले कोई दो सौ छोटे-मोटे करों को हटाकर एक इन्क़म् (आमदनी) टैक्स लगाया और म्युनिसिपैलिटिया को स्वतंत्र और अपने पैरों पर खड़ा कर दिया, तथा ग्राम पंचायत इत्यादि के नियम बनाकर स्थानिक स्वराज्य बढ़ाया। जनता की योग्यता बढ़ाने के लिये प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य (लाज़िमी) और मुफ़्त कर दी तथा गाँव गाँव में पुस्तकालय खोल दिए। इसी बीच में महाराज की प्रजा ने बहुत हर्ष के साथ उनके सुराज्य का "रौप्य महोत्सव" मनाया और उनको एक मानपत्र दिया जिसमें उनके कामों की प्रशंसा की। इस मानपत्र के जवाब में महाराज ने जो शब्द कहे थे वे जानने योग्य हैं। श्रीमान् ने कहा था—

"मैंने जो कुछ अपनी प्रजा के लिये किया है केवल अपना कर्तव्य ही किया है। मैंने भूलें की होंगी, परन्तु मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मैंने जान-बूझकर नहीं कीं। तुम्हारे समान मैं भी मनुष्य हूँ और सभी मनुष्यों से भूलें होती हैं। मैं आशा करता हूँ कि मैंने जो भूलें की होंगी उन्हें तुम दरगुज़र करोगे। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ

कि जहाँ तक बन पड़ा मैं सदा तुम्हारा कल्याण करने का प्रयत्न करूँगा।"

इसमें प्रजा के लिये कितना स्नेह और कैसा विनय दिखाया गया है!

इसी समय महाराजा साहब ने अपनी उपकारिणी दृष्टि अपने राज्य के बाहर समस्त देश पर डाली। उन्होंने हिंदुस्तान के औद्योगिक, सामाजिक इत्यादि विविध आंदोलनों में हिस्सा लिया और ऐसे गंभीर उपदेशपूर्ण व्याख्यान दिए कि चारों तरफ इस बात की प्रशंसा होने लगी कि महाराजा साहब केवल 'बड़ोदे के राजा' ही नहीं परंतु उत्तम शिक्षाप्राप्त हिंदुस्तानी भी हैं, यानी देशभर की सब बातों की उसी तरह खबर और फिक्र रखते हैं जैसी किसी हिंदुस्तानी को रखनी चाहिए। उनके सब भाषणों में स्वदेशभक्ति और उनकी विशाल दृष्टि के चिह्न साफ नजर आते हैं।

संपूर्ण उच्च जीवन की नींव कुटुंबजीवन पर है। महाराजा साहब का कुटुंबजीवन बड़ा पवित्र, प्रेमपूर्ण और नियमानुसार है। उनकी प्रथम पत्नी महारानी चीमनाबाई १८८५ में मर गई। वे नम्र, उदार और मिलनसार थीं। उनकी यादगार में महाराजा साहब ने 'न्याय-मंदिर' और 'चीमनाबाई टावर' बनवाए। बड़े पुत्र युवराज फतहसिंहराव के सन् १९०८ में परलोकवास होने से महाराज

के हृदय पर बड़ी गहरी चोट लगी है, परंतु, संतोष की बात इतनी है कि उनके (फतहसिंहराव के) एक पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं। आजकल जो महारानी हैं वे भी चीमनाबाई के सदृश पढ़ी लिखी हैं, सर्फ खास के हिसाब की देखरेख स्वयं ही रखती हैं और यात्रा करने के कारण सुचतुर और उदार हृदया हो गई हैं। उनके श्रीजयसिंहराव, शिवाजी-राव और धैर्यशीलराव तीन कुँवर हैं, और इंदिरा राजा नाम की पुत्री है जिनका विवाह कूचविहार के राजा के साथ हुआ है। इन सबको महाराजा साहब ने ऊँचे दर्जे की शिक्षा दी है।

(१) कच्चे मन का राजा तो ऐसे मौक़े पर उड़ाऊ, ऐयाश और आरामतलब हो जाता। महाराजा साहब को इसमें ईश्वर की अज्ञेय गति मालूम हुई और अपनी ज़िम्मेदारी का और भी अधिक ख़याल हुआ।

(२) इस पुस्तक में कहे गए सद्गुणों में से अनेक सद्गुण महाराजा साहब के जीवन में साफ़ दिखलाई देते हैं, शिक्षक को विद्यार्थियों का ध्यान उस ओर खींचना चाहिए, जैसे शारीरिक शिक्षा, विद्या के लाभ, सादा- रहनसहन, कर्तव्यनिष्ठा और स्नेहमय कुटुंबजीवन इत्यादि। उनके भाषणों में भारत के कल्याण की बहुतसी बातों का निरूपण है, उन्हें भी विद्यार्थियों को समझाना चाहिए, जैसे शिक्षा की आवश्यकता, तंदुरुस्ती क़ायम रखने की ज़रूरत, कारीगरी का ज्ञान व हिम्मत की ज़रूरत, स्त्रीशिक्षा, बालविवाह की रोक वग़ैरह समाजसुधारों की आवश्यकता, इत्यादि।

७८—सम्राट् पंचम जार्ज

महाराजाधिराज पंचम जार्ज का जन्म ३ जून सन् १८६५ ई० को हुआ था। बचपन से ही उनका पालन पोषण बड़े सादे तरीक़े से हुआ। उनकी माता ऐलेग्ज़ेंड्रा अपने-आप अपने बच्चों की देख रेख करती थीं। इसी कारण से स्नेहमयी माता की देखभाल और शिक्षा का लाभ सम्राट् को बहुत अच्छी तरह मिला। उन्होंने माता ही से अँगरेज़ी बाराखड़ी सीखी, और हालाँकि चार वर्ष की अवस्था ही से उन्हें डाल्टन नाम के एक पादरी के पास पढ़ने के लिये बैठा दिया गया था तो भी बारह वर्ष की उम्र तक उन्हें उनकी माता ने अपनी आँखों से दूर न होने दिया। परंतु अँगरेज़ माताओं में जैसे स्नेह होता है वैसे ही यह बात भी अवश्य होती है कि समय आने पर वे बच्चों को शिक्षा के लिये बाहर भेज देती हैं। जून सन् १८७७ ई० से कुमार जार्ज और उनके बड़े भाई कुमार ऐलबर्ट विक्टर दोनों 'रायल नेवी' (राज-नौका सैन्य) की पाठशाला के विद्यार्थी की हैसियत से ब्रिटानिया-नामक अग्निबोट पर रहे और दो वर्ष तक मामूली विद्यार्थी की तरह नौका-संबंधी अभ्यास करके नोकाशास्त्रसंबंधी परीक्षा में पहले दर्जे में पास हुए। उन्होंने यह अभ्यास कितनी सादगी, धैर्य और कर्तव्यबुद्धि से किया इसका पता इससे लगता है कि

जब तक वे ब्रिटानिया अग्निबोट पर रहे तब तक बराबर दो वर्ष बुगल बजते ही सवेरे साढ़े छः बजे उठकर ठंडे पानी से नहाते, सवा सात बजे से मल्लाह का काम सीखते और सवा आठ बजे प्रार्थना में शामिल होते, और इसके बाद लगभग दो सौ सहाध्यायियों (साथ पढ़नेवालों) के साथ एक मेज पर खाना खाते, पीछे तीन घंटे अभ्यास करते, जिसमें मस्तूल चढ़ाना-उतारना इत्यादि साधारण नाविकों के सब काम करने पड़ते थे। बचपन से ही उन्हें सामुद्रिक जीवन का इतना अधिक चसका था कि जो एक घंटे का समय किनारे पर जाकर खेलने के लिये मिलता उसे भी वे जहाज़ पर ही बिताते थे। अगस्त सन् १८७६ ई० में वे और उनके बड़े भाई समुद्रयात्रा के लिये निकले, योरप और फ्रीका के किनारे के द्वीपों में होते हुए अमेरिका के टापुओं तक गए और मई सन् १८८० ई० में इंगलैंड वापस पहुँचे। केवल दो महीने वहाँ रहकर फिर से यात्रा के लिये रवाना हुए। इस यात्रा में उन्होंने दक्षिण एफ्रीका की सैर की और पूर्वी द्वीपों के शंघाई, हांगकांग, सिंगापुर, कोलंबो वगैरह शहर देखे, और स्वेज नहर से होकर ईसाईधर्म के पवित्र शहर जेरुसलम को भी देखा। इन दोनों यात्राओं से उनमें ब्रिटिश राज्य के प्रदेशों की तरफ बड़ा सम्मान और प्रेमभाव उत्पन्न हो गया।

सन् १८८२ ई० में प्रिंस जार्ज जलसेना की नौकरी में

लग गए और अपने धीरज, मिहनत और होशियारी के कारण धीरे धीरे ऊँचे पद पर पहुँच गए। सन् १८८२ में भूमध्य समुद्र के बेड़े में उनको जगह मिली। इस समय की एक मनोरंजक बात यहाँ कही जाती है जिससे मालूम हो जायगा कि उन्होंने काम करते समय अपने बड़प्पन का विचार बिलकुल छोड़ दिया था। जिस समय सलोनिका के पास ब्रिटिश अग्निबोट ने लंगर डाला उस समय तुर्किस्तान का बादशाह इनसे मिलने के लिये अग्नि-बोट पर आया। उस समय नावों में ढो ढोकर अग्नि-बोट में कोयला भरा जा रहा था। जब राजकुमार जार्ज बादशाह के सामने आए तब कोयलों से काले हुए इनके कपड़े देखकर बादशाह को यह विश्वास न हुआ कि यही महारानी विक्टोरिया के नाती हैं। एक समय उनके माता पिता ने उन्हें शरद् का मेला देखने के लिये बुलवाया, परंतु उन्होंने तमाशा देखने के मुक़ाबिले में कर्तव्य का अधिक विचार किया और जवाब में कहला दिया कि आऊँ तो सही पर मेरी बोट का क्या होगा। जब कप्तान ने दूसरा प्रबंध कर लेने की बात कही तब उन्होंने जवाब दिया—"मुझे इस बोट को स्पिटहेड तक ले जाने का हुक्म मिला है, इसलिये मुझे स्वयं वहाँ जाना चाहिए।" कैसी कर्तव्यनिष्ठा है!

सन् १८९२ ई० में युवराज विक्टर अनायास परलोक

सिधारे, इससे उनके विवाह का जो प्रबंध प्रिंसेस मे—राजकुमारी विक्टोरिया मेरी आव टेक—के साथ हुआ था, वह टूट गया। प्रिंस जार्ज छ वर्ष की उम्र से ही राजकुमारी के साथ साथ खेले थे और उनके साथ बचपन का प्रेम था, परंतु जब उनके बड़े भाई के साथ उनका (राजकुमारी का) विवाह होना निश्चित हुआ तब किसी को स्वप्न में भी यह खयाल न था कि ईश्वर इन दोनों को विवाह की पवित्र गाँठ में जोड़ेगा। जुलाई सन् १८६३ ई० में उनका विवाह हुआ। उनका आपस का स्नेह अनुपम है और वे संतान के बारे में भी पूर्ण सुखी हैं।

युवराज होने के पीछे उन्होंने आस्ट्रेलिया और हिंदुस्तान की सैर की और दोनों बार यात्रा से वापस आने पर इँगलैंड की प्रजा और वहाँ के राजमंत्रियों को उपनिवेशों (कालोनियों) और भारतवर्ष की राज्यप्रणाली के बारे में उत्तम सलाह दी। हिंदुस्तान का राजप्रबंध किस लक्ष्य के अनुसार होना चाहिए, इस विषय में वे कहते हैं—

"अगर हिंदुस्तान के शासन के काम में हम सबके साथ एकसा बर्ताव करने के सिद्धांत को अधिकतर काम में लावें तो यह और भी सहल हो जाय। मैं यह बात पहले से बतला देने की हिम्मत करता हूँ कि अगर हिंदुस्तान की प्रजा की ओर ऐसी हार्दिक सहानुभूति दिखलाई जायगी तो वह उसका सच्चे मन से और बहुत खुशी के साथ स्वागत करेगी।

तिलक के आगेवाले रविवार को विंड्सर जाते हुए सम्राट् मूर्च्छा खाकर गिर पड़े और एक घंटे बेहोश रहे। उनके निजी डाक्टर सर फ्रांसिस लेइकिंग ने तुरंत जर्राह को बुलवाने और नश्तर लगवाने की प्रार्थना की परंतु महाराज ने मना कर दिया। रात गुज़री और दूसरे दिन वे विंड्सर से पेडिंग्टन आने के लिये रवाना हुए। उस समय उनके पेट में असह्य दर्द हो रहा था। परंतु उन्होंने अपने चेहरे पर शिकन तक न आने दी। उन्हें पेडिंग्टन से बकिंगहाम महल जाते हुए देखने के लिये हज़ारों आदमियों की भीड़ जमा थी, परंतु उन्हें सम्राट् की पीड़ा का हाल बिलकुल नहीं जान पड़ा। महल के अहाते में गाड़ी के घुसते ही फौरन् सम्राट् को फिर मूर्च्छा आ गई और वे एक घंटे से ज्यादा बेहोश रहे। होश आने पर सर फ्रांसिस ने विनती की—"महाराज, असली हालत की तरफ आँख बंद करने से काम नहीं चलता, इस समय आप इस बात का खयाल बिलकुल छोड़ दीजिए कि तिलक का क्या होगा।"

सम्राट् ने गुस्सा होकर फ्रांसिस से कहा—"तिलक का काम खतम हो जाने तक मैं कुछ भी नहीं करने दूँगा। जाओ, छः बजे आना।"

सम्राट् ने पिछले पहर का कुल समय मंत्रियों से मिलने और राज्य का काम करने में लगाया। छः बजे सर फ्रांसिस

आप और खड़े हो गए। सम्राट् ने उन्हें नाड़ी दिखलाकर पूछा—"बोलो, क्या राय है?"

सर फ़ासिस लेइकिंग ने उत्तर दिया—"मेरी राय तो यही है, और जर्राह की सलाह लेने की आवश्यकता है।"

सम्राट्—"लेइकिंग, तुम जानते हो कि अभी मैं ऐसा तो करने न दूँगा। तुम जाओ, इस समय मै काम में हूँ।"

लेइकिंग—"महाराज, मे आपसे सविनय प्रार्थना करता हूँ कि मेरा इतना कहना मान लीजिए।"

सम्राट्—"बस, बहुत हुआ, फ़ौरन् चले जाओ।"

सर फ़ासिस दरवाज़े की तरफ लौटे। वे जानते थे कि सारे ब्रिटिश राज्य की आशा राजा के ऊपर है, और उनके जीवन की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। फ़ासिस स्वभाव के गंभीर थे और बहुत कम बोलते थे, पर उन्होंने सोचा कि इस समय राजा के प्राण बचाने हैं, अपना स्वभाव भी बदल डालना चाहिए। वे फिर राजा के पास गए। राजा राज्यकार्यसंबंधी कागज़ देख रहे थे। उन्होंने सिर उठाया और लेइकिंग को सामने देखकर फ़ौरन् बोले—"मैंने तुमसे क्या कहा था, जाओ।" राजा की आवाज से क्रोध झलकता था पर उससे लेइकिंग का इरादा नहीं बदला। उसने कहा—"महाराज, मेरी विनती, मेरी प्रार्थना सुनिए।"

राजा ने उत्तर दिया—"मै तुम्हारी बात बिलकुल नहीं सुनना चाहता। अब एकदम यहाँ से चले जाओ।"

फ्रांसिस फिर दरवाजे की तरफ चले गए, और कुछ देर खड़े खड़े राजा की ओर देखते रहे। वे मरीज़ के स्वभाव को जानते थे, पर उन्होंने इस बात का संकल्प कर लिया था कि कुछ भी हो राजा के प्राणों की रक्षा करेंगे। थोड़ी देर में राजा ने गर्दन उठाई और अब की बार बहुत नाराज होकर कहा—"लेइकिंग, जब मैं तुमसे एक बार चले जाने को कह चुका फिर तुम क्यों यहाँ खड़े हुए हो ?"

लेईकिंग ने अंतिम जवाब देने का निश्चय किया था। वे एकदम राजा के पास जाकर घुटनों के बल झुके और राजा का हाथ अपने दोनों हाथों के बीच में लेकर बोले—"श्रीमन्, परमेश्वर के लिये मेरी प्रार्थना सुनिए और जर्राह की सलाह लेने दीजिए। अब भी यदि आप इंकार करना चाहें तो नौकरी से मेरा इस्तीफा समझिएगा। मैं कहता हूँ कि आप कल न होंगे।"

राजा एकदम चौंक उठे और बोले—"लेईकिंग, यह क्या कह रहे हो !"

मानो राजा को—"मेरा कहा नहीं माना तो मृत्यु है"—ये शब्द लेईकिंग के मुख पर लिखे दिखलाई दिए। वे फौरन् अपनी जिद छोड़कर बोले—"अच्छा, लेईकिंग तुम्हें जो करना हो, करो।"

सर फ्रांसिस खुश होकर एकदम खड़े हो गए और

दरवाज़े के पास जाकर उसे खोला और हाथ उठाया। तुरंत कुशल जर्राह सर फ्रेडरिक ट्रीव्ज़ अंदर आए।

राजा को अपने स्वामिभक्त डाक्टर की यह तैयारी देखकर आश्चर्य हुआ; परंतु कुछ अधिक पूछताछ न की और सर फ्रेडरिक का सत्कार कर कहा—"लेइकिंग की राय है कि आप मुझे देखें।" सर फ्रेडरिक ट्रीव्ज़ ने राजा का शरीर देखा और थोड़े में सब हाल समझाकर बोले—"कल सबेरे आठ बजे नश्तर देना होगा। नतीजे के लिये मैं ज़िम्मेदार नहीं हूँ।"

फ़ौरन् सब इंतज़ाम किया गया और दूसरे दिन मंगलवार तारीख़ २४ जून सन् १६०२ को सुबह आठ-नौ बजे के बीच में सम्राट् एडवर्ड मेज़ पर लिटाए गए और सर फ्रेडरिक ट्रीव्ज़ ने उनके पेट के भीतर की आँतों में चीरा दिया। प्रयोग सफल हुआ और सम्राट् के अमूल्य प्राण बच गए।

(१) सम्राट् का हृदय, सहनशक्ति और प्रजाप्रीति देखो।

(२) लेइकिंग की स्वामिभक्ति, कर्तव्यनिष्ठा और हृदय की शुद्धता ध्यान में रक्खो।

(३) सच्चा स्वामिभक्त सेवक यह नहीं समझता कि स्वामी को खुश रखना ही उसका कर्तव्य है। उसे स्वामी के हित का ही विचार होता है।

(४) अच्छा काम करने में यदि अपमान सहना पड़े अथवा दो चार बार रुकना पड़े तो उससे घबराना नहीं चाहिए। अच्छे इरादे

को कभी नहीं छोड़ना चाहिए, बल्कि उसे नरमी, समझदारी और शुद्ध चित्त से पूरा करना चाहिए। इसी को कर्तव्यनिष्ठा कहते हैं।

(५) स्वामी से सदा मीठे और नम्र वचन बोलने चाहिएँ, परंतु साफ़ साफ़ कहने में न चूकना चाहिए। साफ़ साफ़ कह देना सेवक की मनुष्योचित स्वतंत्रता का स्वरूप है। जो सेवक ऐसा नहीं करता वह अपने हाथों आप गुलाम का पद मोल लेता है, और स्वामी का बुरा करने के साथ साथ अपनेआप को भी नीचता के गड्ढे में डालता है।

(६) प्रजा को चाहिए कि राजा के प्रति अथवा सारे राज्य के प्रति इस प्रकार की राजभक्ति और सफ़ाई के साथ व्यवहार करे। हमें याद रखना चाहिए कि हम राज्य की प्रजा हैं, गुलाम नहीं, और स्वामी भी नहीं। (महाभारत का वह प्रसंग जहाँ कौरवों ने पांडवों को हस्तिनापुर से निकाला है और लोगों ने बाज़ार में मिलकर साफ़ साफ़ अपनी राय प्रकट की है और दूसरी ऐसी ही कथाएँ सुनानी चाहिएँ।)

८१—स्वदेशभक्ति

[१]

एक समय डेरियन लोगों ने एथेंस पर चढ़ाई की। उस समय एथेंसवालों ने 'भविष्यवाणी' से पूछा—"हम क्या करें जो हमारी जीत हो?" 'भविष्यवाणी' ने कहा—"एथेंस का राजा कोड्रस मरेगा तो तुम जीतोगे।" यह बात कोड्रस के कान तक आई। वह तुरंत साधारण सिपाही का वेष धारण कर दुश्मन की छावनी में गया और अपमानपूर्वक ले

बातें करने लगा, जिससे मारपीट हो गई और वह मारा गया। इस प्रकार फाइस ने पथॅस को बचाने के लिये जान-बूझकर अपने प्राण दे दिए।

[२]

ऐसी ही फरासीसियों की एक कथा है। इँगलैंड के राजा तीसरे एडवर्ड ने फ्रांस पर चढ़ाई की और कैले शहर को घेर लिया। शहरवालों को भय हुआ कि अँगरेज शहर में आग लगा देंगे और सबको क़त्ल करेंगे, इसलिये उन्होंने एडवर्ड के साथ सुलह कर ली। परंतु यह शर्त ठहरी कि छः फरासीसी, गले में की रस्सी का फंदा लगाकर, नंगे पाँव राजा के पास फाँसी पाने आवें। फ़ौरन् ही युस्टेस-डी-सेंट-पीअर नामका एक फरासीसी अपने शहरके भलेके लिये आगे बढ़ा। उसे देखकर पाँच आदमी और भी तैयार हो गए। सब के सब शर्त के अनुसार नंगे पाँव फाँसी की रस्सी गले में डालकर एडवर्ड के सामने खड़े हुए। यह दृश्य एडवर्ड की रानी के कलेजे में चुभ गया और उसने राजा के पैरों पर गिरकर उन फरासीसियों के लिये क्षमाप्रार्थना की। पास ही अँगरेज़ सरदार खड़े थे, उनकी आँखों में से आँसू बहने लगे। अपने भाइयों के प्राण बचाने के लिये अपने प्राण को तिनके के समान गिननेवाले इन वीर पुरुषों को राजा ने तुरत छोड़ दिया और शहर पर से घेरा उठा लिया।

[२]

बड़ी भारी फौज के बीचोंबीच एक सुंदर ख़ेमे में स्पेन का राजा फर्डिनैंड और उसकी रानी ईसाबेला बैठे थे। उनके पास स्पेन के कई सरदार खड़े थे। मुसलमानों पर जो उसी समय फतह पाई थी उसके चिह्न सबके चेहरों पर साफ झलक रहे थे। राजा ने मुसलमानों के नेताओं को यह संदेशा भेजा था कि जो तुम इस्लाम छोड़ ईसाई बन जाओगे और स्पेन की सत्ता स्वीकार कर लोगे तो तुम्हें इनाम दूंगा और अपने राज्य में ऊँचे ऊँचे पद दूँगा। एक के बाद एक, इस तरह बहुतसे मुसलमान मुखियाओं ने राजा के पास आकर कहा—"हमारा क़िला आज से आपका है और हम ईसाईमत को स्वीकार करते हैं।" इस प्रकार शर्ते कबूल कर और राजा का इनाम बगल में बाँधकर खुश होते हुए वे अपने अपने घर चल दिए। दूसरों को राजा के पास जाता देखकर दुखी होनेवाला एक मुसलमान सरदार एक तरफ़ खड़ा था। उसका तेज और सिपाहियों कासा ढग देखकर साफ जान पड़ता था कि हार मानने से पहले उसने बहुतों को अपनी तलवार का स्वाद चखाया होगा। पर अब समय ने पलटा खाया था। जब उसकी बारी शर्तें मंजूर करने की आई तब वह दृढ़ता से राजा के सामने जाकर खड़ा हो गया और बोला—"राजा साहब, मेरी इच्छा आपके सामने सिर झुकाने की

नहीं थी, पर मेरे साथियों ने मेरे साथ दगा की, इसलिये अब कोई चारा नहीं। मैं लाचार होकर अपना क़िला आपके हवाले करता हूँ।" राजा ने ख़ज़ाञ्ची को इशारा किया जिस पर ख़ज़ाञ्ची उस मुसलमान को सोने की मोहरों की थेली देने लगा। मुसलमान ने उसके हाथ को एक तरफ हटाकर कहा—"राजा साहब, मैं अपना क़िला बेचने नहीं आया हूँ। मेरी क़िस्मत में ताबे होना यदा था इसीलिये मैं ताबे होता हूँ, नहीं तो अगर मेरे साथी मेरे साथ डटे रहते तो जीते जी इस क़िले को आपका न होने देता।" उसके ये शब्द सुनकर राजा प्रसन्न हुआ और बोला—"सरदार, हम तुझे अपनी फौज में ऊँची जगह देते हैं।" उसने कहा—"राजा साहब, मैं माफी चाहता हूँ, मुझसे काम न होगा।" रानी ईसाबेला बोली—"कुछ तो हमें देने दो ?" उसने कहा—"यदि आपकी यही इच्छा है तो मैं इतना ही माँगता हूँ कि मेरे नगरवासी पहले की तरह मुसलमानी धर्म का पालन करें, आप उनको धर्म से हटाने की चेष्टा न करें।

"अच्छा, ऐसा ही होगा। पर तुम्हें हम क्या दें ?"

मुसलमान—"मुझे अपना घोड़ा तथा कुछ और चीजें लेकर मक्का जाने दीजिए जहाँ का मैं असल में निवासी हूँ।"

राजा—"अच्छा, परन्तु कुछ चाँदी के साज़वाले घोड़े और सोने की मोहरें लेते जाओ।"

मुसलमान—"राजा साहब, मैं फिर कहता हूँ कि मेरा प्यारा शहर ग्रेनेडा तो खँडहर हुआ पड़ा है, भला मैं क्या आपकी मोहरें ले सकता हूँ ?"

८२—हल्दीघाटी की लड़ाई

कर सिंह-विक्रम अमर नाम प्रताप जग में कर गया,
वह वीर-रस-मय रण-कथा उत्साह उपजाती नया।
रण की कथा से पूर्व हल्दीघाट-यश सुन लीजिए,
पाठक प्रवर! पुनि पुनि प्रणाम सुपुण्य-थल को कीजिए।
निज मातृ-भू-स्वाधीनता हित आर्यरक्त बहा यहाँ,
इतिहास में संग्राम ऐसा है हुआ कदापि कहाँ?
दुर्गम्य[1] अर्बुद[2] शैलमाला पश्चिमीय विभाग में,
चौकोर दश योजन सुवर्णाकार पर्वत-भाग में—
है अति विशाल वैनाद्रिवेष्टित[3] थल जहाँ वक्रापगा[4],
बहतीं विशुद्ध, सुरम्य धरणी देख मन जाता ठगा।
वे सघन पादपपुंज[5], शृंगसमूह[6] शोभित हैं बड़े,
थे राजपूत सशस्त्र उन पर हो गए जाकर खड़े।
था दुर्ग दुर्दमनीय अनुपम उस समय देखा गया,
शिव सहचरोंसह दीत हो कैलाश ही मानो नया।
वीरत्व राणारूप धर आया स्वयं रणरंग को,
वाचक! विचारो ध्यान से इस रणप्रसिद्ध प्रसंग को।
भीलादि ले अरि-आगमन की वे प्रतीक्षा कर रहे,
बाइस सहस निज सैन्य में उत्साह यों भर रहे—

---

१ कठिनता से पहुँचने योग्य। २. अर्बली पर्वत। ३ वन और पहाड़ों से घिरा हुआ। ४. टेढ़ी नदियाँ। ५. वृक्ष। ६. चोटी।

"रिपुसैन्य संख्या है बड़ी हम अल्प ही यद्यपि सही,
कुछ क्यों न हो, पर शत्रु से रक्षित रहे माता मही।
हे राजपूतो! इसलिये तुम एक ही शत-सदृश हो,
वे दास हैं तुरुष्क के तुम मातृ-सेवा-वश्य हो।
वे शत्रु हैं, तुम पुत्र हो, तुम स्वत्व रखते हो बड़ा,
शिशु सिंह-सम्मुख भी कभी गजराज है देखा खड़ा?
तृण-तुल्य जीवन आज निज स्वाधीनता पर दान दो,
सर्वस्व देकर शूरवीरो! मातृ भू को मान दो।
बस आज भारत वीर-विक्रम का नमूना दो दिखा,
इन क्षुद्र देशद्रोहियों को कर्म का फल दो चखा।"
दशपट सौ बैतीस संवत् शुक्ल श्रावण सप्तमी,
थीं सैन्य दोनों सामने रणभूमि में आकर जमी।
होने लगा रणघोर आगे केशरीन्द्र प्रताप था,
नेता बना निज सैन्य रण मद-मत्त का वह आप था।
अपने अलौकिक शौर्य, विक्रम और रण-नैपुण्य से,
वह शत्रु पर गुर्दे वज्रसम था जा पड़ा वह सैन्य से।
यह देख उन्मादित हुए सामतगण भी क्रुद्ध हो,
झपटे बुभुक्षित सिंहसम लड़ने लगे अविरुद्ध हो।
तब युद्ध-कौशल, चण्ड-विक्रम से दलित त्रासित हुए,
रिपु-सैन्य व्यूह विभंग कर व्याकुल भगी तज रण मही।
राणा अदम्योत्साह, साहस से हुए कृतकार्य ही,
और व्यूह टूटा राजपूता शस्त्र थे अनिवार्य हा।
तब राजपूत कटुम्ब-दूषण 'मान'-अनुसंधान को,

---

१ अधिकार। २ १६३२ विक्रमी। ३ अगुआ। ४ चतुराई।
५ मारा। ६ भूखा। ७ युद्धक्षेत्र। ८ न रुकनेवाला जोश।
९. तलाश।

उत्ताप था राणा प्रताप स्वहस्त पर रख प्राण को।
हो क्रुद्ध अश्रुतपूर्व[1] हो अविराम रण करने लगे,
विकराल वर करवाल[2] से कट शीश भू-भरने लगे।
कर-शूल[3] से भी अमित वीरों को धराशायी[4] किया,
जो पास आया रुण्डमुण्ड विभिन्न[5] दिखलाई दिया।
उस काल एक अनेकसम वे चतुर्दिक् लड़ने लगे,
निज शत्रु को जिस ओर देखे दृष्टि वे पड़ने लगे।
जब दृष्टि आया सामने युवराज[6]-कुंजर झूमता,
चेतक[7] तुरग तुरत पहुँचा चक्रसम तब घूमता।
गज-शुंड पद से दाब मस्तक पर हुआ जाकर खड़ा,
भाला लिए राणा प्रताप सलीम-शिर पर जा अड़ा।
पाठक! बनाकर चित्र इसका चित्त में मढ़ लीजिए,
वर वीरता निर्भीकता[8]-गज[9] पर तथा चढ़ लीजिए।
युवराज के सौभाग्य से भाला महावत पर गिरा,
अंकुश बिना मातंग वह तब समर-प्रांगण[10] से फिरा।
पीछा प्रताप किए गए संग्राम-रस बढ़ने लगा,
दोनों दलों का कोप पारे[11] ज्यों ऊपर चढ़ने लगा।
निज शत्रु-दर्प विचूर्ण करते राजपूत प्रमत्त थे,
रणयज्ञ में दे जीवनाहुति[12] धर्म में अनुरक्त थे।
राणा अकेले बढ़ गए, था राजछत्र लगा हुआ,
तब यवन यूथ[13] सरोष धाए देख शत्रु फँसा हुआ।

---

१. जो पहले कभी न सुना गया हो। २. तलवार। ३ भाला। ४ पृथ्वी पर सोया हुआ। ५ अलग। ६ शाहज़ादा सलीम (अकबर का पुत्र)। ७ महाराणा के घोड़े का नाम था। ८. निडरता। ९ हाथी। १० लड़ाई का मैदान। ११ पारा (गरमी से थर्मामीटर का पारा ऊपर को चढ़ता है)। १२ प्राणों की आहुति। १३ झुंड।

है शत्रु घिर अगणित चतुर्दिक् सिंह एक प्रताप है,
मारा घुमाता वेग से ज्यों तड़ित चेतक टाप है।
निज हस्तलाघव से अकेले सैकड़ों को मारते,
जाते जिधर हैं शत्रुदल तृणतुल्य हैं संहारते।
अभिमन्यु ने कुरुसैन्य को मारा यथा रणव्यूह में,
त्यों ही मचा दी खलबली उस घोर शत्रुसमूह में।
देखा नमूना रामरावणयुद्ध का रण में गया,
या सूर्यवंशी सूर्य ही समुदित हुआ मानो नया।
अविराम अस्त्राघात से थे सात घाव हुए यदा,
संकट समय लख प्राण की चेष्टा लगे करने तदा।
'जय जय प्रताप'-सुनाद श्रव्य हुआ उन्हें उस काल में,
मानो घृताहुति आ पड़ी युद्ध-कोप-ज्वाला-जाल में।
वर वीर झालापति झपटने आ मिले युद्ध घोष से,
तब सिंहनाद प्रताप का जयनाद में मिल रोष से—
रिपुसैन्य का घननाद पै सब हृदय दहलाने लगा,
विद्युत्-प्रहार प्रचण्ड असि की प्रौढ़ता पाने लगा।
पर एक, दो, दस, बीस हों तो युद्ध करना ठीक है,
लाखों लड़ें मिल एक से बोलो कहाँ की लीक है?
देखा, समर सागर तरंगें बढ़ रहीं हैं वेग से,
रणधीर मन्नाजी घुसे दल चीरते निज तेग से।
ले राजछत्र प्रताप का निज शीश पर धारण किया,
पद प्रज्वलित समराग्नि में निज नाथ दुख वारण किया।
फिर शत्रुसेना में प्रवेश सगर्व कर उत्साह से—

---

१ बिजली। २ तेजी। ३. उदय। ४ अस्त्रों की चोट। ५ भारी आवाज। ६ सुनी गई। ७ आग का समूह। ८ मन्नाजी। ९ बिजली कीसी मार। १० तलवार। ११ रोकना।

वे हर्ष में अति मग्न हो रिपु-रक्त सरिता-ओह से।
सानन्द देकर जीवदान विमुक्त जीवन हो गए,
प्रभुभक्त वीर सुधन्य स्वामी-हित सदा को सो गए।
यद्यपि महाआश्चर्यमय वीरत्व का यह काम था,
पर विषम-पक्ष-विचार से क्या कहो यह संग्राम था?
जब मुगल-सेनाधिक्य पर भी अधिक आग्नेयास्त्र थे,
तब काम दे सकते कहाँ तक भला केवल शस्त्र थे?
चौदह सहस्र सुक्षत्रियों ने प्राण का बलिदान दे,
रणरंग पूर्ण किया वहाँ निज देश को सम्मान दे।
राणा अकेले चले चेतक पर चढ़े रण-भूमि से,
उस काल भी थे फिर रहे वे दो समर-सिंधूर्मि से।
दो यवन उनको देख पीछे लग लिए सत्वर वहीं,
दुर्दैव दुष्ट! तुझे दया आई अहो अब भी नहीं।
जो देशरक्षा पर मरे उसके लिये यह आपदा,
क्या धर्मसेवक ही हरे! हैं कष्ट पाते सर्वदा।
हय-वीर चेतक एक सरिता पारकर आगे गया,
थे यवन वे असमर्थ, राणा को मिला जीवन नया।
वे रुधिर से भीगे हुए आहत जरा आगे बढ़े,
भावी दशा के ध्यान में थे जा रहे चेतक-चढ़े।
तब पीठ-पीछे घोर रव करता हुआ बदूक-वार,
निज मातृभाषा में सुना—"हो नील घोड़ारा सवार!"
आता हुआ लख शक्तसिंह सक्रोध वे कहने लगे,
घाता! यही है समय प्रण पालन करें भाई सगे।
हययुक्त घायल, थकित, रुधिर-प्रक्लिन्न दारुण क्लेश से,

१ बहना। २ बदूक आदि। ३. रणरूपी समुद्र की लहरें।
४. शीघ्र। ५ चुड़ैल। ६ सने हुए।

आंसित हुए भी गर्जते बोले विरोधावेश से।
रे देशकंटक! आ तुझे भी भेज दूँ यमलोक में,
तूने लगाया दाग है मेवाड़-पुण्यश्लोक में।
पर देख दीन मलीन मुख सुन नम्र वाणी बंधु की,
सदहगत राणा हुए लहरें उठीं सुखसिंधु की।
यह बंधुद्रोही शक्तसिंह प्रताप विक्रममुग्ध हो,
है कह रहा निज पूर्व कर्मों पर हृदय में क्षुब्ध हो—
हे आर्य! मम दुर्बुद्धिकृत दूषण क्षमा अब कीजिए,
मुझ अधम को शिशु जानकर फिर निज शरण में लीजिए।
निज भूल जानी तथा पाया आज धर्मालोक को,
है किया प्रायश्चित्त, पठाए यवन दो यमलोक को।
सुन शब्द ये अनुराग-अम्बुधि उमड़कर मानो बहा,
उस प्रेम का आनंद किस कवि से कहो जावे कहा?
विषवारि, पर, सहसा सुधा मुख में कहाँ से आमिला,
आपत्तिसहचर प्राणरक्षक अश्व चेतक भी चला।
चेतक-विरह-व्याकुल रुदन करते महादुख पा रहे,
थे शोक पारावार में गाते प्रताप लगा रहे।
तब 'शक्त' ने निज अश्व दे बहु भाँति समझाया उन्हें,
प्रेमवश स्वयं लौटा सलीम समीप को तज के उन्हें।
यह वीरता का दिवस अद्भुत आर्य गौरव पर्व था,
रण-रक्त पारावार में डूबा यवन-दल गर्व था।
आदर्श आत्मोत्सर्ग का यह राजपूतों ने दिखा,
गिरि गात्र पा निज रुधिर से रक्षित रखी हिंदू-शिखा।

---

१ क्रोधित होकर। २ पवित्र कीर्ति। ३ धर्म का प्रकाश। ४ समुद्र। ५ शक्तसिंह सलीम से यह वचन देकर आया था कि भाई से मिलकर लौट आऊँगा।

शिक्षा तथा निज सभ्यता की वृद्धि का दम भर चुके।
पर छटपटाते अन्य देशी आज भी जिस शान्ति को,
थे हम कभी के पा चुके उसकी अलौकिक कांति को।

[१३]

है वायुमंडल में हमारे गीत अब भी गूँजते,
निर्झर नदी सागर नगर गिरि वन सभी हैं कूजते।
देखो हमारा विश्व में कोई नहीं उपमान था,
नरदेव थे हम और भारत देवलोक-समान था।

[१४]

क्या जान पड़ती यह कथा अब स्वप्न कीसी है नहीं,
हम हैं वहीं पर पूर्वदर्शन दृष्टि आते हैं कहीं।
देखें कहीं पूर्वज हमारे स्वर्ग से आकर हमें,
रोवें कलेजा थामकर इस वेष में पाकर हमें।

[१५]

हम कौन थे क्या हो गए हैं जान लो इसका पता,
जो थे कभी गुरु है न उनमें शिष्य की भी योग्यता।
थे जो सभी से अग्रगामी आज पीछे भी नहीं,
है दीखती संसार में विपरीतता ऐसी कहीं।

[१६]

अब भी सुधारेंगे न हम दुर्दैववश अपनी दशा,
तो नामशेष हमें करेगा काल ले कर्कश कशा।
बस, टिमटिमाता दीख पड़ता आज जीवनदीप है,
हा दैव ! क्या रक्षा न होगी सर्वनाश समीप है ?

[१७]

कुछ पार है, क्या क्या समय के उलटफेर न हो चुके,
हे भाइयो कुछ है सुना हम आज कितने रो चुके।

श्रम सो चुके सब खो चुके जागो उठो उत्साह से,
निज मान मर्यादा विचारो दूर हो दुख दाह से।

[१८]

निज पूर्वजों का वह अलौकिक सत्य शील निहार लो,
फिर ध्यान से अपनी दशा भी एक बार विचार लो।
जो आज अपनेआप को यों भूल हम जाते नहीं,
तो यों कभी संतापमूलक शूल हम पाते नहीं।

[१९]

निज पूर्वजों के सद्गुणों को यत्न से मन में धरो,
सब आत्म-परिभवभाव तज निज रूप का चिंतन करो।
निज पूर्वजों के सद्गुणों का गर्व जो रखती नहीं,
वह जाति जीवित जातियों में रह नहीं सकती कहीं।

[२०]

हम हिंदुओं के सामने आदर्श जैसे प्राप्त हैं,
संसार में किस जाति को किस ठौर वैसे प्राप्त हैं।
भवसिंधु में निज पूर्वजों की रीति से ही हम तरें,
यदि हो सकें वैसे न हम तो अनुकरण तो भी करें।

मैथिलीशरण गुप्त

८९—सच्चा देशाभिमान

होड़ और लगन के साथ सब जाति के लोगों को अपने अपने कुल का, जाति का तथा शहर का भला करना चाहिए। साथ ही जोश के साथ ऐसे ऐसे काम करने चाहिएँ जिनसे सब शहरों के रहनेवालों को सुख मिले और अन्त में देश के धनी और दरिद्री सब सुख भोगें,

बड़े बड़े कारखाने खुलें, उपज उत्तम हो और बहुत हो, देश की उत्तम चीज़ें परदेश में, जहाँ उनकी कमी हो, बेची जायँ, पानी में कंकड़ फेकने से जैसे कुंडाले बढ़ते हैं वैसे देशभर में विद्या फैलती जाय—इसी का नाम देशाभिमान है। यों देशभक्त कहलानेवाले तो बहुत हैं पर काम पड़ने पर वे बगलें झाँकने लगते हैं। बहुतसे केवल नाम पाने की इच्छा से काम करते हैं, पर ऐसे लोग देशहितैषी नहीं कहे जा सकते। जो मनुष्य नाम पैदा करने के लिये विद्याभ्यास, रोजगार या धर्म के काम करता है वह अपने कुटुम्ब, जाति और शहर में अच्छा कहलाता है, पर उसके बारे में यह बात जरा भी नहीं कही जा सकती कि वह देश का भला करनेवाला है, जब तक कि वह कुटुंब, जाति इत्यादि का भरण पोषण, और पहले शहर और फिर देश के लोगों की भलाई के ऐसे कार्य नहीं करता जो बहुत दिन स्थिर रहें। देश को परदेशियों के हमले से बचाने के लिये राजा और शूरवीर लड़ते हैं, परंतु यह न समझना चाहिए कि केवल वही सच्चे देशाभिमानी हैं। जो गरीब विद्वान्, जंगल के बीच एक झोंपड़े के कोने में बैठकर पेड़ के पत्तों पर ऐसी बातें लिखता है जिनसे देश का कल्याण हो, और उन्हें जगत् में छोड़ जाता है, उसे भी बड़ा भारी स्वदेशाभिमानी समझना चाहिए। यह सच है कि मनुष्य स्वार्थ के बिना कोई काम नहीं करता पर स्वार्थी होने पर

भी दुनिया का उपकारी होना देशाभिमानी का कर्म और धर्म है। मक्खियाँ जैसे शहद इकट्ठा करती हैं और वह सबके काम आता है वैसे ही मनुष्य, मनुष्य की बुद्धि और मनुष्य के परिश्रमद्वारा भी अनेक नतीजे निकलते हैं, और यही देश की पूँजी है। इस पूँजी को बचाने के लिये तथा उसकी मदद से हज़ारगुनी अचल और उपयोगी सम्पत्ति पैदा करने के लिये जो मनुष्य अपने हिस्से का काम सहर्ष करते हुए अपने देशभाइयों का भला करते हैं वही देशाभिमानी समझे जाने चाहियें।

नर्मदाशंकर

(१) "अभिमान" का अर्थ ऊपर के पाठ में "गर्व", "घमंड" नहीं है, बल्कि "अपना मानना", "अपना समझना" है, अर्थात् देशाभिमान का मतलब "देश को अपना समझना" है।

(२) देश को अपना समझना तभी हो सकता है जब हमारे सब काम उसके हित के लिये ही हों। केवल अपना कहने से ही अपना नहीं होता, अपना करने से अपना होता है।

(३) माता पिता की भक्ति के विषय में विचार करते समय हमने देखा था कि भक्ति केवल हृदय ही का भाव नहीं है, इस भाव के साथ साथ इसके अनुकूल आचरण भी लगा हुआ है। जो भक्ति सेवा के रूप में प्रत्यक्ष न हो वह सच्ची भक्ति नहीं। इस लिये सच्चा स्वदेशभक्त वही है जो देश की यथाशक्ति सेवा करे। प्रेम मुख से नहीं बोलता, करके दिखलाता है। सच्चा स्वदेशभक्त स्वदेशभक्ति की बातें नहीं बनाता, वह करके दिखलाता है। कोरा स्वदेशाभिमान किसी काम का नहीं।

[६]

जब कि कितने ही तोते पेड़ के फल खाने में लगे रहते हैं तब उनमें से थोड़ेसे, चौकीदारों की तरह, चारों ओर पहरा देते हैं। इसी तरह और भी बहुतसे पक्षियों को इकट्ठे मिलकर यात्रा करने की, गाने की, और दूसरे कितने ही कामों को एकसाथ करने की आदत होती है।

यों एकसाथ मिलकर काम करके पशु पक्षी अपना चारा खाते हैं और शत्रु के सामने अपना बचाव करते हैं। पर तुम तो आदमी हो, और इसलिये तुम सब मिलकर अपनी रक्षा और गुज़र करो। इतना ही नहीं, तुम्हें तो देश की भलाई और परोपकार के लिये बहुतसे काम मिलकर करने चाहिएँ ऐसा करने से ही तुम पशु-पक्षियों से श्रेष्ठ समझे जाओगे।

८८—"सूत न कपास, कोलिया स लठालठी"

अर्थात्

व्यर्थ झगड़ना

काठियावाड़ के एक गाँव में पाँचू नाम का एक मुखिया रहता था। उसकी स्त्री का नाम था 'फूला'। एक दिन वह पानी भरने को जा रही थी तो सामने मैदान में क्या देखती है कि एक परदेशी भैंसों का झुंड [illegible] । उन्हें बेचने को लाया है। गाँव में कितने ही [illegible] मोल ले

रहे थे यह देखकर फूला मुखियाइन को भी एक भैंस खरीदने की बड़ी इच्छा हुई। घर आकर वह अपने आदमी से क्या बोली सो सुनिए—

फूला—सुनो हो! बहुतसी भैंसें बिकने आई हैं, उनमें से एक अच्छीसी छाँट लाओ। बहुत दिन हो गए, दुधार जीव बिना छाछबाछ की बड़ी तकलीफ है सो खबर है?

पाँचू—खबर क्यों न होगी? बहुत कुछ खबर है। मेरे भाई के बच्चे की आँख में, छाछ बिना, फूली पड़ गई है, इसलिये भैंस तो लेनी ही पड़ेगी। तू उसको खूब गाढ़ी गाढ़ी छाछ निकालकर दिया कीजियो, भला।

फूला—आग लगे ऐसी गाढ़ी छाछवाले में! भैंस की टहल करती तो मैं मरूँ, और छाछ पिएँ तुम्हारे भाई के बच्चे! मेरे भाई के क्या बच्चे नहीं हैं जो मैं उन्हें दूँ? 'काम करें ऊधोदास, जीम जायँ माधोदास।'

पाँचू—हूँ, अपने भाई के बच्चों को देगी? ऐसा करेगी तो तेरी मरम्मत कर दूँगा।

फूला—लो मारो, देखूँ तो कैसे मारनेवाले हो? (यों कहकर दो चार गालियाँ दीं।)

इससे पाँचू को बड़ा गुस्सा आया और उसने पास पड़ा हुआ डंडा लेकर एकदम फूला के तड़ातड़ लगा दिए। फूला भी खूब जोर जोर से रोने चिल्लाने लगी जिससे अड़ोसी पड़ोसी भी इकट्ठे हो गए। उन्होंने पूछा

साथ उड़ चलेगा और इस तरह इस जाल को अपनी पीठों पर लाद्कर उस सामनेवाले पेड़ तक ले चलो। ज्यों ही वह पेड़ आवे त्यों ही सब कोई उस पर बैठ जाओ। इससे जाल पेड़ के ऊपर ही तना रह जायगा और हम लोग नीचे से निकल जायँगे।" सबने इस बुद्धिमान् पक्षी की सलाह मानी और उड़े। वे पीठ पर जाल लिए आकाश में उड़े जा रहे थे और उनके पीछे पीछे जमीन पर वह चिड़ीमार भागा जा रहा था। इसको इस तरह दौड़ता देखकर एक राहगीर जो उधर से जा रहा था बोला—"भलेमानस, तेरे जाल को तो पक्षी आकाश में लिए जाते हैं, भला अब वह कैसे तेरे हाथ लग सकता है ?" चिड़ीमार ने हँसकर जवाब दिया—"इन पक्षियों में से दो चार भी अलग हुए कि जाल झुककर जमीन पर गिरा, तब मैं जाल को और उसी के साथ सब पक्षियों को भी पकड़ लूँगा।" इतने में क्या हुआ कि पेड़ तक पहुँचने के पहले ही एक पक्षी का पर पास के पक्षी के पर से जरा लग गया और इससे ये दोनों आपस में लड़ने लगे। इस लड़ाई में दूसरे भी शामिल हुए और यों सहारा छूटने से पक्षियों समेत वह जाल एकदम पृथ्वी पर आ पड़ा। वह बहेलिया पीछे आ ही रहा था। अगर फिर भी वे पक्षी पहले की तरह जाल को ले उड़ते तो उड़ सकते थे, पर यह न करके उन्होंने आपस में लड़ना शुरू किया। एक बोला कि

मेरे ऊपर जाल का बहुत बोझ था, दूसरा बोला कि मेरे ऊपर था, एक बोला कि तूने जाल छोड़ दिया, दूसरा बोला कि तूने छोड़ दिया, एक बोला कि अब की बार पहले तू उठा, दूसरा बोला कि तू उठा। इस तरह बात बात पर लड़ाई शुरू हो गई और सब चीं चीं करने लगे, पर जाल किसी ने न उठाया। इतने में वह चिड़ीमार आ पहुँचा और सब पक्षियों को जाल में लपेटकर घर ले गया।

(१) जो काम अकेले आदमी के बल से नहीं हो सकता वह सबके इकट्ठे बल से हो सकता है।

(२) एके के बिना बल इकट्ठा नहीं होता।

(३) फूट से कमज़ोरी आती है और हाथ में लिया हुआ काम पूरा नहीं होता, साथ ही, दुश्मन को भी मौक़ा मिल जाता है।

(४) एक से दूसरे का पर लग गया—इस तरह कोई न कोई कारण लड़ने का मिले तो उसकी परवा न करनी चाहिए, एके के लिये सहनशीलता की आवश्यकता है।

(५) जाल का बोझ सबके ऊपर बराबर था, पर जब फूट का प्रवेश हो जाता है तब "मैं अच्छा और तू बुरा" यों एक दूसरे का दोष निकालने की सूझती है।

(६) एक दो जनों को लड़ता छोड़कर अगर बाक़ी पक्षियों ने ही अपना कर्तव्य पूरा किया होता तो भी काम पूरा हो जाता। मगर वे न्याय अन्याय का टटा करने में लग गए जिससे उनमें दलबदी हो गई और फूट की बीमारी सबमें फैल गई।

(७) एक कहे तू शुरू कर और दूसरा कहे तू शुरू कर—ऐसी तू तू मैं मैं में काम बिगड़ जाता है।

(८) एके के लिये मतभेद सहन करने की आवश्यकता समझानी चाहिए। -

(९) एके का बल—"धागे और रस्सा", "लकड़ियाँ और बोझ", "चींटियाँ और साँप"—आदिक दृष्टांतों से समझाना चाहिए।

(१०) फूट की कमज़ोरी—"दो बिल्लियाँ और बंदर", "मेंढक और चूहा" (एक तालाब के पासवाले खेत पर किसका हक़ है इसके लिये एक मेंढक और चूहे में लड़ाई हुई। एक दूसरे के सामने सरकंडे (=तलवार) ले लेकर डट गए, इतने में एक कौवा आया और दोनों को लेकर उड़ गया!) आदिक कहानियों से समझानी चाहिए।

(११) सबको एक दूसरे की किस तरह ज़रूरत होती है यह बात "पेट और दूसरे अंग" वाली कहानी से बतलानी चाहिए।

(१२) पुराने और नए ऐतिहासिक उदाहरण लेने चाहिएँ—जैसे कि कर्ण और अश्वत्थामा की फूट से कौरव-पक्ष में कमज़ोरी आना (देखो "कुरुवनदहन नाटक"), पृथ्वीराज और जयचंद की फूट से मुसलमानों को मौक़ा मिल जाना, जिस समय स्पेनिश आरमेडा ने इँगलिस्तान पर चढ़ाई की उस समय रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट पंथ के अँगरेज़ आपस के झगड़े छोड़कर कैसे एक हो गए थे—इत्यादि।

६०—अंधा और लूला

एक गाँव में एक अंधा और एक लूला रहते थे। साधारण रूप से उनका निर्वाह गाँव के लोगों द्वारा होता था। पर एक बार गाँव में संवत् १९५६ का जैसा अकाल पड़ा जिससे गाँव के लोग भूखों मरने लगे और हरएक को अपना

अपना ही पेट भरना मुश्किल हो गया, फिर दूसरे की सहायता करने की कौन कहे ? गॉंव से थोड़ी दूर पर सरकार ने अकालपीड़ितों के लिये एक कारखाना खोला था। वहॉं उन्हें बुनने का काम करना पड़ता था और पेटभर अन्न दिया जाता था। भूखों मरने से घबराकर लगभग सारा गॉंव ही वहॉं काम करने के लिये पहुँचा, केवल वह अंधा और लूला, अपंग होने के कारण रह गए। उन्होंने विचार किया कि कोई गाड़ी आती जाती हो और गाड़ीवान को दया आवे तो हमें भी गाड़ी में बैठाकर ले जाय। परंतु उस समय ढोरों के खाने तक को चारा तो था ही नहीं, इसलिये गाड़ी मिलना भी कठिन ही था। इतने में लूले को एक तरकीब सूझी। उसने अंधे से कहा—"भाई, प्राण बचाने का एक उपाय है। मुझे अपने कंधे पर बैठा और मैं तुझे कारखाने का रास्ता बतलाऊँ, इस प्रकार धीरे धीरे हम वहॉं पहुँच सकते हैं।" "सीधे हाथ की ओर, बाएँ हाथ की ओर" करते करते वे दोनों (अंधा और लूला) भी वहॉं जा पहुँचे जहॉं दयालु सरकार ने अकालपीड़ितों के लिये कारखाना खोल रक्खा था। वे दिनभर तो बुनते और रात को भजन गाकर सब लोगों को शांति और उपदेश देते। इस कारण वे सबके प्रिय बन गए। काम सिखानेवालों ने उन्हें दिल से काम सिखलाया और अंत में वे बुनने के काम में ऐसे निपुण हो गए कि अकाल बीतने पर

जब कारखाना बंद हो गया तब भी वे अपने हुनर से खूब कमाने लगे, और कुछ दिनों बाद रोटी-दाल से खुश हो गए। गाँव में अंधे और लूले की दोस्ती एक नमूना हो गई।

अनाथ का नाथ ईश्वर है। जिस अकाल ने लाखों मनुष्यों के प्राण लिए वह अंधे और लूले की इस जोड़ी को सुखी बनाता गया।

(१) एकता से—मिलकर काम करने से—एक दूसरे की कमी पूरी हो जाती है और बड़े बड़े काम सिद्ध हो सकते हैं।

(२) शिक्षक को चाहिए कि विद्यार्थियों को आपस में एक दूसरे की मदद करने के अच्छे परिणाम उदाहरण देकर समझावे। जैसे—धनी, विद्वान्, मज़दूर आदि परस्पर सहायता करके किस तरह कारखाने खोल सकते हैं और देश का धन बढ़ा सकते हैं, एक अमीर आदमी गरीब पढ़े लिखे को मदद देकर पुस्तकें छपाकर देश की विद्या की कैसी उन्नति कर सकता है—वगैरह।

(३) इस दुनिया की जुदी जुदी शक्तियाँ और जुदी जुदी वस्तुएँ एक दूसरे से मिलकर दुनिया की मशीन को चलाती हैं। इस ओर विद्यार्थी का ध्यान दिलाकर एकता का उपदेश करना चाहिए।

(४) अपंग होने पर भी, भीख माँगकर खाने से मेहनत करके खाना कहीं अच्छा है।

६१—एक सौ पाँच

पांडव जुए में हारकर वन को चले गए। वहाँ भी दुर्योधन ने उन्हें हैरान करने के बहुतसे उपाय किए। दुर्योधन बुरे इरादों से द्वैतवन में भटकता फिरता था कि

एकाएक गंधर्वों के साथ उसकी सेना का झगड़ा हो गया। कौरवों और गंधर्वों में बड़ा भारी युद्ध हुआ, जिसमें अंत में गंधर्वों की जीत हुई। दुर्योधन, उसकी रानी और उसके भाइयों को गंधर्वों ने क़ैद कर लिया और उन्हें ले जाने को तैयार हुए। इतने ही में गंधर्वों के भय से भागी हुई कौरव-सेना पांडवों की शरण में गई और दुर्योधन के मंत्री दुर्योधन को गंधर्वों से छुड़ाने के लिये आतुरता और दीनता के साथ युधिष्ठिर से प्रार्थना करने लगे—"हे धर्मराज, हे पांडवो, हमारे राजा दुर्योधन को गंधर्व पकड़े लिए जाते हैं इसलिये आप उनकी जान बचाइए। गंधर्व दुःशासन और सब रानियों को क़ैद करके लिए जाते हैं, आप उनकी जान बचाइए।"

यह सुनकर भीमसेन को तो बड़ी ही प्रसन्नता हुई। "जो हुआ वह ठीक ही हुआ" यह कहकर उसने कौरवों की ख़ूब खिल्ली उड़ाई। पर धर्मराज युधिष्ठिर ने उस समय जो कुछ कहा वह सुनने लायक़ है—

"भाई भीम, इस समय कौरव भय से भागकर हमारी शरण आए हैं, बेचारे बड़े संकट में हैं और हमसे रक्षा चाहते हैं, क्यों तुम उनके कटे पर नमक छिड़कते हो? संबंधियों में तरह तरह के झगड़े होते हैं और एक दूसरे से अलग भी हो जाते हैं। आपस में बैर तो लगा ही हुआ है, पर क्या बैर के पीछे कुनबे के धर्म को भी नष्ट कर देना

चाहिए ? जब कोई बाहर का आदमी अपने कुल के किसी मनुष्य का अपमान करे तो क्या हमको यह उचित है कि दूर से ही देखते रहें ? आपस की लड़ाई में सौ कौरवों के सामने हम पाँच हैं, परंतु दूसरे के साथ की लड़ाई में तो सौ वे और पाँच हम, ऐसे मिलकर एक सौ पाँच हैं। इसलिये हे भीम, तुम सब कौरवों की रक्षा के लिये जाओ और दुर्योधन को कुटुम्ब समेत गंधर्वों के हाथ से छुड़ा लाओ।"

भीम और अर्जुन कौरवों की सहायता करने गए और दुर्योधन को छुड़ा लाए। गंधर्व युधिष्ठिर के पास आए और उन्हें बतलाया कि किस प्रकार दुर्योधन उन्हें हैरान करना चाहता था। परंतु धर्मराज उदार और क्षमावान् हृदय से बोले—"गंधर्वो, तुम सब बलवान् हो और जो चाहो वही कर सकते हो इस पर भी तुमने दुर्योधन को मारा नहीं, यह अच्छा किया। सच तो यह है कि तुमने मेरे भाई दुर्योधन को छोड़कर मेरे ऊपर बड़ा भारी उपकार किया है।"

(१) दुष्ट मनुष्य की दुष्टता का पार नहीं होता। दुखी को भी दुःख देने में उसे प्रसन्नता होती है। पांडवों को वनवास देने पर भी दुर्योधन को संतोष नहीं हुआ, उन्हें हैरान करने के लिये बराबर प्रपंच रचता रहा।

(२) भले आदमी की भलाई की भी सीमा नहीं होती, अपने ऊपर अपकार करनेवाले का भी वह उपकार ही करता है। दुर्योधन ने इससे पहले पांडवों का एक दो बार नहीं, अनेक बार अपकार

किया था इस पर भी युधिष्ठिर ने उसे छुड़ाया। इतना ही नहीं, इस समय भी दुर्योधन अपकार करने ही आया था कि बीच में ही गंधर्वों के पंजे में फँस गया, पर यह सब जानते हुए भी युधिष्ठिर ने उपकार ही किया।

(३) सभी मनुष्यों की ओर ऐसा ही प्रेम रखना चाहिए, कुटुंबियों का तो कहना ही क्या ! जैसे जैसे मनुष्य का मन उदार होता जाता है वैसे ही वैसे उसकी ममता—अपनेपन का भाव—कुटुंब से जाति में, जाति से देश में, देश से संसारभर में फैलता जाता है। अपनी, अपने शहर की और अपने देश की प्रतिष्ठा की रक्षा करना, वसुधैव कुटुंबकम्—इस भावना से संसारभर की या मनुष्यजाति की प्रतिष्ठा की रक्षा करना, अर्थात् परमात्मा किसी काम को मनुष्योचित समझता है या नहीं इसका विचार करना और जो मनुष्योचित हो वही करना—इस प्रकार आदमी से शुरू करके धीरे धीरे समष्टि तक प्रेमभाव का विस्तार करना चाहिए।

६२—एकलीज़ का रूठना

प्राचीन काल में जब ग्रीक लोगों ने ट्राय को घेर लिया तब उनमें और ट्रोजन लोगों में बड़ी भारी लड़ाई हुई, जिसका वर्णन महाकवि होमर ने इलियड नामक महाकाव्य में किया है।

ग्रीक लोग एगेमेम्नन नाम के राजा की मातहती में लड़ने आए थे, और उनमें एकलीज इत्यादि बहुतसे बहादुर और पराक्रमी योद्धा थे। घेरे को नौ वर्ष हो गए और चारों तरफ का मुल्क ग्रीक लोगों ने वीरान कर दिया,

परंतु ट्रोजन शरण में न आए। ट्राय की दीवार की एक ईं
तक नहीं खिसकी और ग्रीक लोगों की जीत की आशा दू
ही दूर होती गई। अब क्या करना चाहिए—इसका विचार
करने के लिये एगेमेम्नन के सभापतित्व में सब ग्रीक
योद्धाओं की एक सभा हो रही थी। इतने में एक बुड्ढ
फरियाद करता हुआ सभा में आया और एगेमेम्नन के
सामने हाथ जोड़कर बोला—"महाराज, मेरी इकलौती
बेटी आपके यहाँ पकड़ी आकर दासी बनाई गई है, उसे
कृपा कर मुक्त कर दीजिए, मैं बूढ़ा हूँ, मेरे ऊपर दया
कीजिए, और यह रुपया मैं भेंट करता हूँ, इसे लेकर मेरी
लड़की वापस कीजिए।" परंतु अभिमानी एगेमेम्नन ने
उस बेचारे बुड्ढे को दुत्कारकर निकाल दिया।

बुड्ढे की आत्मा को बड़ा दु ख हुआ। ईश्वर ने उसकी
सुन ली। ग्रीक लोगों की छावनी में सख्त बीमारी फैली
और सबको चिंता होने लगी। सब मिलकर एक त्रिकाल-
ज्ञानी (भूत, भविष्यत्, वर्तमान की बात जाननेवाले) महात्मा
के पास गए और उस बीमारी का कारण पूछा। महात्मा
ने साफ कह दिया कि एगेमेम्नन के काम से ईश्वर अप्रसन्न
है। यह सुनकर एगेमेम्नन महात्मा पर बहुत क्रोधित हुआ
और बोला—"अरे मनहूस बकवादी, तूने आज तक कभी
मेरे लिये कोई अच्छी बात नहीं कही। तू मुझे ही ग्रीक-
भाइयों पर दु.ख पड़ने का कारण बतलाता है? अगर स

यही समझते हों कि मेरे उस दासी को वापस न देने ही से यह उत्पात हुआ है तो जिससे सबकी जान बचे वही मैं करने को तैयार हूँ और मैं उसे छोड़ देने को राजी हूँ, परन्तु उसके बदले मुझे दूसरी दासी देनी होगी।"

इस बात पर एकलीज़ ने क्रोधित होकर कहा—"अरे लोभी, बतला तो कि ग्रीक भले आदमी तुझे किस किसमें हिस्सा दें? लूट का माल बाँटा जा चुका है, और बँटे हुए को फिर से इकट्ठा करके बाँटना उचित नहीं मालूम होता। अब तो उस दासी को उसके बाप को लौटा दे और इस भले काम से ईश्वर को प्रसन्न कर। बाद को यदि ईश्वर की कृपा से हम ट्राय जीतेंगे तो पीछे की लूट में से तुझे तिगुना चौगुना बदला दे देंगे।"

एगेमेम्नन बोला—"एकलीज, तू समझता है कि मैं कुछ जानता ही नहीं। मैं तो अपनी लूट वापस कर दूँ और तुम अपनी अपने पास रक्खो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं स्वयं जाकर तेरी या एजेक्स या यूलीसीज की दासी पकड़ लाऊँगा। इस वक्त तुम भले ही उस दासी को जहाज पर चढ़ाकर उसके बाप के घर भेज दो।"

एगेमेम्नन की बात एकलीज को बहुत बुरी लगी और उसने म्यान से तलवार खींची, पर कुछ सोचकर फिर उसे म्यान में रख ली और कुछ देर बाद बोला—"अरे बेशर्म, ट्रोजन लोगों ने हमारा कुछ बिगाड़ा नहीं है। हम

परंतु ट्रोजन शरण में न आए। ट्राय की दीवार की एक ईंट तक नहीं खिसकी और ग्रीक लोगों की जीत की आशा दूर ही दूर होती गई। अब क्या करना चाहिए—इसका विचार करने के लिये एगेमेम्नन के सभापतित्व में सब ग्रीक-योद्धाओं की एक सभा हो रही थी। इतने में एक बुड्ढा फरियाद करता हुआ सभा में आया और एगेमेम्नन के सामने हाथ जोड़कर बोला—"महाराज, मेरी इकलौती बेटी आपके यहाँ पकड़ी आकर दासी बनाई गई है, उसे कृपा कर मुक्त कर दीजिए, मैं बूढ़ा हूँ, मेरे ऊपर दया कीजिए, और यह रुपया मैं भेंट करता हूँ, इसे लेकर मेरी लड़की वापस कीजिए।" परंतु अभिमानी एगेमेम्नन ने उस बेचारे बुड्ढे को दुत्कारकर निकाल दिया।

बुड्ढे की आत्मा को बड़ा दुःख हुआ। ईश्वर ने उसकी सुन ली। ग्रीक लोगों की छावनी में सख़्त बीमारी फैली और सबको चिंता होने लगी। सब मिलकर एक त्रिकाल-ज्ञानी (भूत, भविष्यत्, वर्तमान की बात जाननेवाले) महात्मा के पास गए और उस बीमारी का कारण पूछा। महात्मा ने साफ़ कह दिया कि एगेमेम्नन के काम से ईश्वर अप्रसन्न है। यह सुनकर एगेमेम्नन महात्मा पर बहुत क्रोधित हुआ और बोला—"अरे मनहूस बकवादी, तूने आज तक कभी मेरे लिये कोई अच्छी बात नहीं कही। तू मुझे ही ग्रीक-भाइयों पर दुःख पड़ने का कारण बतलाता है? अगर स

यही समझते हों कि मेरे उस दासी को वापस न देने ही से यह उत्पात हुआ है तो जिससे सबकी जान बचे वही मैं करने को तैयार हूँ और मैं उसे छोड़ देने को राजी हूँ, परंतु उसके बदले मुझे दूसरी दासी देनी होगी।"

इस बात पर एकलीज ने क्रोधित होकर कहा—"अरे लोभी, बतला तो कि ग्रीक भले आदमी तुझे किस किसमें हिस्सा दें? लूट का माल बाँटा जा चुका है, और बँटे हुए को फिर से इकट्ठा करके बाँटना उचित नहीं मालूम होता। अब तो उस दासी को उसके बाप को लौटा दे और इस भले काम से ईश्वर को प्रसन्न कर। बाद को यदि ईश्वर की कृपा से हम ट्राय जीतेंगे तो पीछे की लूट में से तुझे तिगुना चौगुना बदला दे देंगे।"

एगेमेम्नन बोला—"एकलीज, तू समझता है कि मैं कुछ जानता ही नहीं। मैं तो अपनी लूट वापस कर दूँ और तुम अपनी अपने पास रक्खो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं स्वयं जाकर तेरी या एजेक्स या यूलोसीज की दासी पकड़ लाऊँगा। इस वक्त तुम भले ही उस दासी को जहाज पर चढ़ाकर उसके बाप के घर भेज दो।"

एगेमेम्नन की बात एकलीज को बहुत बुरी लगी और उसने म्यान से तलवार खींची, पर कुछ सोचकर फिर उसे म्यान में रख ली और कुछ देर बाद बोला—"अरे बेशर्म, ट्रोजन लोगों ने हमारा कुछ बिगाड़ा नहीं है। हम

उनसे लड़ने आए हैं सो मेनेलेअस के और तेरे कारण। लेकिन तू नेकी को भूलकर मेरा अपमान करता है, इसलिये ज्यादा अच्छा यही है कि मैं यहाँ न रहकर देश को वापस चला जाऊँ।" एगेमेम्नन ने चिढ़कर कहा—"कल जाता हो तो आज चला जा। मैं रहने के लिये तेरी खुशामद नहीं करता। मुझे तेरी और तेरे क्रोध की रत्तीभर भी परवा नहीं है।"

यह सुनकर एकलीज़ ने सब ग्रीक सामंतों के सामने प्रतिज्ञा की कि जब हेक्टर की मार से लोहूलुहान होकर तुम सब ग्रीक मेरी मदद लेने आओगे—और ऐसा ज़रूर होना ही है—तब मैं तुम्हारी एक बात भी न सुनूँगा, और तभी एगेमेम्नन पछतावेगा और सोचेगा कि क्यों मैंने ग्रीक-बहादुरों के सिरताज का अपमान किया।

ऐसा कह एकलीज़ छावनी छोड़कर चला गया। आख़िर वह दिन आ ही गया जब एगेमेम्नन को पछताना पड़ा और उस समय केवल अपने मित्र पेट्रोक्लस की हत्या का बदला लेने के लिये मनाने पर फिर एकलीज़ युद्ध में लड़ने आया।

(१) पाप सभी बुरे हैं, परन्तु ग़रीब और अनाथ की आत्मा को सताना सबसे बढ़कर है।

(२) ईश्वर लकड़ी लेकर दंड नहीं देता, पर उसकी पवित्र इच्छानुसार संसार के नियम ऐसे बने हुए हैं कि पाप का दंड

कभी न कभी मिल ही जाता है। संदेह न करना चाहिए; सदा याद रखना चाहिए कि हमारे सुख-दुःख में ईश्वर का न्याय और कर्मों का फल मिला हुआ है।

(३) एगोमेम्नन का यह विचार प्रशंसा के योग्य है कि अपने दोष से अगर सबको हानि होती हो तो स्वयं हठ छोड़ देना चाहिए। परंतु उसका यह विचार न्याय के विरुद्ध है कि स्वयं हानि न उठाई जाय बल्कि अपनी हानि दूसरों से पूरी कर ली जाय।

(४) यह बात बहुत बुरी है कि यदि किसी काम में किसी एक आदमी से न बने तो उसकी वजह से उस काम से ही हाथ खींच लिया जाय। सच्चा बड़प्पन इसी में है कि अपमान की परवा न करके लोगों में भलाई के जुए का बोझ सहन करते हुए काम में आगे बढ़ना, न कि उसे बोझ समझकर फेंक भागना।

(५) एकलीज़ के समान रूठ जाने से, एकता से करने के काम कैसे बिगड़ते हैं यह बात शिक्षक को बालकों के जीवन में से तथा इतिहास में से दृष्टांत देकर बतलानी चाहिए।

६३—वचनामृत

सदा एक से दो भले, यही नीति का सार।
अच्छा होता काम यदि दो जन करें विचार।
रहें मेल से दो जन तो न तीसरा उनसे झगड़ेगा,
अगर फूट हो, तो कोई भी आकर उनको रगड़ेगा।
हो न पास में कौड़ी तो फिर दुनिया देती है फटकार,
अपनी इज्जत रखनेवाले की इज्जत करता संसार।

झटपट पढ़कर काम सीखकर सुख पावें सुख पहुँचावें,
मातु-पिता, माई बहनों से हिलमिलकर हिय हुलसावें।
ईश्वर करे सहाय किसी को कष्ट न हम पहुँचावेंगे,
एके को आधार बनाकर बेड़ा पार लगावेंगे।
एके से दुनिया चलती है, एके से उठता है भार,
बड़े काम एके से होते, एके में सुख अपरपार।

(गुजराती कवि नर्मदाशंकर की
एक कविता के आधार पर।)

" क्षमा वीरस्य भूषणम् "

" परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय वहन्ति नद्यः ;
परोपकाराय दुहन्ति गावः
परोपकारार्थमिदं शरीरम् ।"

"श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ;
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।"

अवतरण

बालको, कुटुंब में कैसे प्रेम से रहना और उस प्रेम को राष्ट्र और देश के प्रति कैसे फैलाना चाहिए, यह विषय मैं तुमको बतला चुका हूँ। यह प्रेम केवल हृदय की भावना अथवा थोथा अभिमान ही नहीं बल्कि एक ऐसी सेवा है जिससे देश का कल्याण हो और उसकी प्रतिष्ठा बढ़े—यह भी मैं तुम्हें समझा चुका हूँ। इसके लिये आपस में एका रखने की बड़ी आवश्यकता है, और वैर, ईर्षा, रोष इत्यादि नीच भावों को छोड़े बिना एका हो नहीं सकता, इस बारे में मे बहुत कुछ कह चुका हूँ।

अभी कुछ दिन पहले मैंने तुमसे प्रेम के कुंडालेवाली बात कही थी, उसे याद करो। पानी में हमने ककड़ फेंका और उससे पानी में कुडाले पैदा हुए। वे एक के पास दूसरा, दूसरे के पास तीसरा, इस तरह फैलते गए। उनके दृष्टांत से मैंने तुमको यह बतलाया था कि कुटुंब का स्नेह कुल देश के ऊपर फैलाना चाहिए, अर्थात् कुटुंब में हमें जिस प्यार और मेल से आपस में व्यवहार करना उचित है उसी प्यार और मेल से देश के सब मनुष्यों के साथ व्यवहार करने की आवश्यकता है। परंतु तुमको याद ` कि देश भी हमारे प्रेम का आखिरी कुडाला नहीं है।

देश से आगे चलकर मनुष्यमात्र के ऊपर, बल्कि प्राणि-मात्र के ऊपर उदार प्रेम रखना चाहिए। यही हमारे प्रेम का सबसे अच्छा विकास है, और इसी विषय पर अब मैं तुम्हें उपदेश करना चाहता हूँ।

दो चीजों से प्रेम बना है—क्षमा और उपकार। दूसरे की बुराइयों को क्षमा करना और उसके बदले भलाई करना—ऐसे ऊँचे बर्ताव से ही दूसरे पर सच्ची जय मिल सकती है और पाप लज्जित होकर पुण्य के मार्ग में प्रवृत्त होता है।

जो लोग सचमुच भले हैं वे दुष्ट मनुष्यों के दोषों को क्षमा करने में ही, अथवा अपकार के बदले उपकार करने में ही अपने प्रेम का अंत नहीं समझते। वे तो हमेशा छाया और फल देनेवाले पेड़ों, और चारों ओर जल फैलानेवाली नदियों की भाँति परोपकार करने में ही अपना जीवन बिताते हैं। मनुष्य की अच्छी से अच्छी वृत्ति यही है कि स्वार्थ छोड़कर परार्थ (दूसरे की भलाई) करने में ही जीवन को सफल समझे। अगर हम जन्मभर इसी बात पर स्थिर रहें तो समझना चाहिए कि हमने अपना मनुष्यत्व पूरी तरह सिद्ध किया, और अपने सद्गुण के महल को ऊँचे शिखर पर पहुँचाया।

६४—गाली न देना

संसार में मनुष्यों का व्यवहार देखकर बुद्ध भगवान् ने सोचा कि अहो ! दुनिया में कितना सारा दुःख केवल शत्रुता से और एक दूसरे की बुराई करने से उत्पन्न होता है ! ऐसा विचारकर उन्होंने निश्चय किया कि कोई भी अज्ञानी मनुष्य मेरे साथ बुराई करेगा तो भी मैं उसके साथ खुले जी से प्रेम ही करूँगा। वह जैसे जैसे मेरा बुरा करता आयगा वैसे ही वैसे मैं उसका भला करता जाऊँगा। भले की सुगंध मुझे आवेगी, बुराई और दुर्गंध उसे मिलेगी। बुद्ध भगवान् की यह बात सुनकर एक मूर्ख उनके पास गया और बहुत गालियाँ देने लगा। बुद्ध भगवान् कुछ भी न बोले। उनके चित्त में उसकी मूर्खता पर दया आई। वह मनुष्य गालियाँ दे रहा था, इतने में बुद्धदेव ने कहा—

"महाशय, किसी मनुष्य को हम कोई चीज देने जायँ, और वह उसे स्वीकार न करे, तो वह चीज हमारे ही पास रहेगी या उसके पास चली जायगी ?" उस मनुष्य ने जवाब दिया—"हमारे ही पास रहेगी।" बुद्धदेव बोले—"तब फिर इसी प्रकार मैं तुम्हारी गालियों को स्वीकार नहीं करता और प्रार्थना करता हूँ कि इन्हें अपने ही पास रख छोड़िए। यह भी विचार कर लीजिए कि इसके परिणाम में आपको दुःख होगा या नहीं ? जैसे आवाज के

साथ गूँज लगी रहती है, जैसे हरएक वस्तु के साथ उसकी छाया रहती है, वैसे ही हरएक पाप के पीछे उसका बदला भी लगा रहता है। किसी को गाली देना सिर के ऊपर आए हुए सूर्य की तरफ थूकने के समान है। थूक सूर्य पर नहीं पड़ता बल्कि उलटा थूकनेवाले के मुहँ पर पड़ता है। किसी को गाली देना और सामने से आती हुई हवा की तरफ धूल फेंकना बराबर है। धूल हवा पर नहीं जाती बल्कि उलटी फेंकनेवाले पर ही आ पड़ती है।

(१) गाली सदा सहिए, गाली कोई काट नहीं खाती है, जो बेसमझ आदमी गाली बकता है उसी का मुहँ खराब होता है।

(२) अच्छे आदमी की कभी हानि नहीं होती, उसके साथ अगर कोई बुराई करे, तो वह बुराई, करनेवाले के ही ऊपर पड़ती है।

६५—वचनामृत

(१) इन्द्र ने बृहस्पति से कहा—

गुरु महाराज, ऐसी एक बात बतलाइए कि जिसके करने से मनुष्य सब जगह सम्मान पावे और अच्छा समझा जाय।

बृहस्पति ने उत्तर दिया—

हे इन्द्र, मीठे वचन बोलना एक ऐसी चीज़ है जिससे मनुष्य सब जगह सम्मान पाता है और अच्छा समझा जाता है। बोलते समय जिस मनुष्य की भौंहें चढ़ जाती हैं उसे संसार में कोई नहीं चाहता। जो मनुष्य दूसरे को देखकर पहले ही बोलता है और

उसे हानि पहुँचाने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। संसार में पापी को पाप का बदला मिले बिना नहीं रहता। पाप का दंड स्वयं ईश्वर देता है, और दुनिया से दिलवाता है। परंतु यह न्याय हमें अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए। शायद हम अपनी कुछ तरफ़दारी कर जायँ, ऐसा समझकर हमें अपने काम में स्वयं न्यायाधीश नहीं बनना चाहिए।

(२) "जो कोई तेरा अपराध करे तो तू उसे डाँट बतला, और जो वह पछताये तो उसे क्षमा कर। और जो वह एक दिन में सात बार तेरा अपराध करे और सात बार तेरी तरफ़ मुड़कर कहे कि मैं पछताता हूँ तो उसे माफ़ कर।"

—बाइबिल

९७—समर्थ की क्षमा

[१]

एक दिन पैगंबर साहब वन में एक झाड़ के नीचे सो रहे थे। दासूर नाम का एक काफ़िर उन्हें अकेला देखकर उन पर टूट पड़ा और तलवार खींच चिल्लाकर बोला—"ओ मोहम्मद, अब इस समय तुझे कौन बचा सकता है?" हज़रत मोहम्मद ने आँखें खोलीं, फौरन् उठ खड़े हुए और बोले—"ईश्वर मेरा बचानेवाला है।" यह कहकर उस काफ़िर पर हमला किया और उससे तलवार छीनकर कहा—"अब तू बतला तुझे कौन बचावेगा?" दासूर उनकी यह फुर्ती और हिम्मत देखकर काँपने लगा और बोला—"अफ़सोस, अब मुझे कोई नहीं बचा सकता।"

पैग़ंबर साहब ने यह सुनकर उसकी तलवार उसके सामने फेंक दी और कहा—"ले, अपनी तलवार उठा और मुझसे दया करना सीख। आ, मैं तुझे ठीक रास्ता बतलाऊँ।" दासूर यह सुनकर उनका शिष्य बन गया और मुसलमान हो गया।

[२]

बुद्धदेव के एक पूर्वजन्म की कथा है कि वह एक बार पड़हे के रूप में जनमे थे। उस हालत में भी उनमें सहन-शीलता और क्षमा के अलौकिक गुण मौजूद थे। उन्हें सीधा सादा देखकर एक बंदर बहुत सताता था। सोते हों तो उनकी पीठ पर उछल-कूद मचाता, उनके सींग पकड़कर झूलता, वे चरते हों तो सामने आकर खड़ा हो जाता और उनके सिर पर बैठकर आँखें दबाता। यह देख एक यक्ष को बड़ा अचरज हुआ। उसने आकर बुद्धदेव से कहा—"महाराज, यह आपकी शांति कैसी है? क्या इस दुष्ट बंदर ने आपको मोल ले लिया है कि जो कुछ यह करता है आप सह लेते हैं? एक सींग मारकर तो शेर को चीर सकते हो, फिर इस बंदर का किया हुआ अपमान क्यों सहते हो? क्षमा और शांति से दुष्ट कभी भी सुधरे हैं? यदि इसको कड़ा दंड न दिया गया तो, जैसे बिना दवा के रोग बिगड़ जाता है वैसे ही, यह और भी [illegible] जायगा।" बुद्धदेव ने अपने निश्चय पर दृढ़ रहते

जवाब दिया—"यक्षराज, मैं इस बंदर के दोष अच्छी तरह जानता हूँ, और मुझमें इतना बल भी है कि इसे एकदम में चीर डालूँ। पर इतनी सामर्थ्य होने के कारण ही मैं इसके सब अपराध सहता हूँ। जो अपने से अधिक बलवान् हो और जिसके अपराध का, सहन करने के सिवा, कोई चारा ही न हो उसके सहन करने में क्या लगता है? तुम कहते हो कि दुष्ट की कोई बात न सहो, पर यह तो सोचो कि भले आदमी की कोई ऐसी बात ही क्यों होने लगी जिसमें सहन करने की आवश्यकता पड़े? फिर जो अपने पापों से मेरे पाप धो रहा है, जो स्वयं दोष में पड़कर मुझे क्षमा सिखलाता है उसका भी मैं उपकार न मानूँ तो मुझसे बढ़कर नीच और कौन होगा?"

यह अलौकिक वाणी सुनकर यक्ष बोला—"महाराज, इस रीति से तो आपका कभी इस कष्ट से छुटकारा ही न होगा, और न यह दुष्ट बंदर कभी सुधरेगा।"

बुद्धदेव ने उत्तर दिया—"मैं नहीं चाहता कि अपना दुःख टालने के लिये दूसरे को दुखी करूँ। परंतु यदि यह बंदर न सुधरा तो अवश्य बुराई की बात होगी। लेकिन ऐसा हो नहीं सकता। जैसे आज यह मुझे हैरान करता है वैसे ही कल किसी और को करेगा। वह क्रोधी स्वभाव का होगा और इसे ठीक कर देगा। तब यह फौरन् सीधा हो जायगा और मेरी क्षमा की याद करके इसे अपने दोष

का भारीपन मालूम पड़ जायगा और तभी यह इस बात को जान सकेगा कि क्षमा क्या वस्तु है।"

यक्ष बुद्धदेव को धन्यवाद देकर गायब हो गया।

(१) समर्थ की क्षमा ही सच्ची क्षमा है, और इसीलिये क्षमा को वीर का भूषण कहा है, डरपोक का नहीं।

(२) दूसरे के अपराध करने से ही मुझे क्षमा करने का अवसर मिला—इस तरह सत्पुरुष दूसरे के कामों का हमेशा ठीक अर्थ लगाते हैं।

(३) दया की तरह क्षमा भी दोनों पक्षों का कल्याण करती है—करनेवाले का और जिस पर की जाय उसका भी।

(४) जो क्षमा से दूसरा मनुष्य बिगड़ता हो तो क्षमा अच्छी नहीं, दूसरे को बिगाड़कर अपना आप सद्गुण की आदत डालना ठीक नहीं। ऐसे सद्गुण में स्वार्थ की मात्रा है।

(५) परंतु क्षमा में दूसरे के सुधारने की अलौकिक शक्ति है। या तो दूसरा मनुष्य एकदम लज्जित होकर सुधर ही जाता है, या फिर उसकी दुष्टता इतनी तेज़ी पकड़ती है कि थोड़े समय में ही वह ठोकर खाकर ज़मीन पर गिरता है। जिस तरह पुल्टिस (Poultice) फोड़े के मवाद को बाहर खींच लाती है उसी तरह क्षमा दुष्टता को बाहर खींच लाती है—और इसलिये देखने में जब दुष्टता बढ़ी हुई मालूम होती है तभी असल में उसका अंत समीप होता है।

६८—अश्वत्थामा और द्रौपदी

कौरवों और पांडवों की लड़ाई हो चुकी। दुर्योधन गदा युद्ध में भीम के हाथ से मारा गया। दुर्योधन की तरफ

के कितने ही योद्धा दुर्योधन से पहले ही मारे जा चुके थे, कितने ही पड़े सिसक रहे थे, और कितने ही हार खाकर भटकते फिरते थे। इन्हीं में से द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा भी था।

दोनों सेनाओं की छावनियों पर रात की घोर अँधेरी छा गई थी। जो थोड़े बहुत योद्धा जीवित थे वे भी हार-थककर रणभूमि में ही सो गए थे। कोमल पुष्प की सेज पर सोने के योग्य शरीर आज कड़ी धरती पर पड़े नींद ले रहे हैं! चारों तरफ रात का सन्नाटा छाया हुआ था। इसके सिवा पेड़ के एक पत्ते के भी हिलने की खड़खड़ाहट सुनाई नहीं देती थी। इतने में पास के पेड़ पर अश्वत्थामा ने एक उल्लू को उतरते देखा। इस पेड़ पर काग का घोंसला था जिसमें यह उल्लू चुपचाप घुस गया और बेचारे ऊँघते हुए बच्चों को पकड़कर उसने किसी की गरदन मरोड़ दी, किसी के पंजे और पख खींचकर तोड़ फेंके—इस तरह सबको मार डाला। यह मामला देखकर पापी अश्वत्थामा को पाण्डवों से बदला चुकाने की यह नीचताभरी तरकीब सूझी कि अभी तो छावनी में सब सोते हैं, अगर इस समय द्रौपदी के लड़कों को मार डाला जाय तो पाण्डवों के वंश का नाम मिट जाय। इस दुष्ट ने द्रौपदी के ऊँघते हुए बालकों के सिर काट लिए। द्रौपदी अपने बेटों को मरा हुआ देखकर बहुत विलाप करने लगी और अर्जुन को तो

इतना क्रोध आया कि वह इस नीच को मारने का इरादा करके निकल खड़ा हुआ। अश्वत्थामा की टोह लगाकर अर्जुन उसके पीछे दौड़ा और अंत में उसे जमीन पर गिराकर रस्सी से बाँध दिया। अर्जुन कितना दयालु है, इसकी परीक्षा करने के लिये कृष्ण ने उससे कहा—"अर्जुन, इस पापी को मार!" लेकिन अर्जुन का हृदय बड़ा था, उसे उसके ऊपर दया आई, उसे बाँधकर द्रौपदी के पास ले गया, क्योंकि उसने द्रौपदी का ही सबसे अधिक अपराध किया था। अश्वत्थामा को देखते ही वह उदार क्षत्राणी बोल उठी—"अजी इसे छोड़ दो, छोड़ दो। अपने बच्चों के मारे जाने से जैसे मैं रो रही हूँ, वैसे ही रोने का अवसर इसकी माँ को न दो।" अर्जुन और द्रौपदी की यह उदारता और क्षमा देखकर कृष्ण आदिक सब बड़े प्रसन्न हुए। आखिर अश्वत्थामा को शिक्षा देने की नीयत से अर्जुन ने उसकी चोटी काट ली और बंधन खोलकर उस दुष्ट को, जिसका रंग बालहत्या के कारण उड़ा हुआ था, छावनी से निकाल बाहर किया।

(१) नीच पुरुष पर नीचता के ही भावों का असर होता है।

(२) पापी को पाप का दंड देना न्याय है, पर नीचता को क्षमा करनेवाले की विशेष शोभा है।

(३) जिस प्राणी से हमारा अनभल होता है उसे दंड देने की इच्छा न्याय के अनुकूल है, पर भगवान् के उत्तम भक्त न्याय

करते हुए भी दया को आगे रखते हैं, जिससे भगवान् बड़े प्रसन्न होते हैं।

(४) न्याय और दया दोनों ही सद्गुण प्रभु को पसंद हैं, पर दया न्याय से अधिक, क्योंकि "दया न्याय को कोमल बनाती है।"

६६—बड़ा कौन?

एक समय की बात है कि गंगाजी के किनारे एक सकड़े रास्ते में काशी और कोसल के राजाओं के रथ एक दूसरे के सामने आ गए। एक का रथवान दूसरे के रथवान से कहने लगा—"रथ को एक तरफ हटा—" और दूसरा जवाब देने लगा—"तू अपना रथ हटा।" यों कहते कहते वे आपस में झगड़ने लगे। एक कहता कि मेरे रथ में काशिराज बैठे हैं तो दूसरा कहता कि मेरे रथ में कोसल-राज विराज रहे हैं। फिर यह ठहरी कि इन दोनों में जो बड़ा हो उसका रथ सीधा जाय और दूसरा अपने रथ को एक ओर हटा ले। पर दोनों में से बड़ा किसको कहा जाय? जो उम्र में बड़ा हो वही बड़ा? किंतु उम्र में दोनों बराबर के निकले। धन और अधिकार में जो बड़ा वही बड़ा? दोनों ही का राज तीन सौ योजन विस्तार का था, दोनों ही का देश खूब उपजाऊ था और दोनों ही की दौलत भी बराबर थी। काशिराज के रथवान ने कहा—

"दाना में से शील-सदाचार के लक्षणों में जो बड़ा हो वही बड़ा।" कोसलराज के रथवान ने कहा—"तब तो मेरा राजा ही बड़ा है क्योंकि यह कड़े के लिये कड़ा, कोमल के लिये कोमल, भले के साथ भला और बुरे के साथ बुरा है।" यह सुनकर काशिराज का रथवान बोला—"परन्तु मेरा राजा तो बुराई को भलाई से जीतता है।" यह सुन-कर कोसलराज के रथवान ने एकदम अपना रथ एक ओर कर लिया।

(१) चीन में दो बड़े उपदेशक हो गए हैं—कन्फ्यूशियस और लाओटूसी। कन्फ्यूशियस का कहना था कि बुराई करनेवाले को न्याय से और भलाई करनेवाले को भलाई से बदला देना चाहिए। लाओटूसी को यह मत पसंद नहीं था, उसका कहना था कि बुराई के बदले में भी भलाई ही करनी चाहिए।

(२) "जो तोकूँ काँटा बुवे, ताहि बोय तू फूल,
तोकों फूल के फूल हैं, वाको है तिरसूल।"

(३) चंदन को काटो, चीरो, घिसो, तो वह और भी सुगंध देता है, अगुर जैसे जैसे जलता जाता है वैसे वैसे सुगंध फैलाता जाता है—इत्यादि प्रसिद्ध दृष्टांतों से अपकार के बदले उपकार करने की खूबी बालकों के हृदय में जमा देनी चाहिए।

१००—वैर

वैर एक तरह का जंगली न्याय है। स्वभाव से ही मनुष्य उस ओर झुकता है, पर जितना अधिक यह झुके उतना

ही इसे उस पर से हटाने का यत्न क़ानून को करना चाहिए, क्योंकि मुख्य अपराध केवल कानून का तोड़ना है। क़ानून से अपराधी को दंड दिया जा सकता हो तो भी वैर करना, क़ानून की जरा भी परवा न करते हुए उसे अपने हाथ में लेना है। वैर चुकाने में मनुष्य अपने शत्रु के साथ स्वयं भी वैसा ही बन जाता है, लेकिन उसे क्षमा करके वह अपने को उससे ऊँचा बना लेता है, क्योंकि क्षमा राजा का—वीर का—भूषण है। सुलेमान ने भी कहा है कि क़सूर को दर गुज़र करने, अपराध को क्षमा करने में ही मनुष्य की शोभा है। जो हुआ सो हुआ, जो हो चुका वह मिट नहीं सकता। भले आदमियों को, वर्तमान और भविष्य में करने के लिये, क्या थोड़ा काम होता है जो वे गड़े मुर्दे उखाड़ा करें? किसी को हानि पहुँचाने में कुछ ख़ास मजा तो आता नहीं है। दूसरे की हानि करने में आदमी का यही मतलब होता है कि मुझे पैसा, या सुख, या प्रतिष्ठा या कोई और ऐसी ही चीज मिले। ऐसे ही उद्देश से दूसरा आदमी भी प्रेरित हो, और अपनी चिंता मुझसे अधिक करे तो मुझे उसे क्यों दोष देना चाहिए? ऐसा तो शायद ही कोई मनुष्य निकले जो केवल दुष्ट स्वभाव से ही—अपना कोई लाभ देखे बिना—किसी का बुरा करे। पर यदि ऐसा मनुष्य कोई हो तो वह एक काँटों के झाड़ के समान है जिसका स्वभाव ही यह है कि दूसरे के चुभे।

जिस बुराई की क़ानून में कोई सज़ा न हो उसका बदला लेना क्षमा के योग्य हो सकता है। कितने ही मनुष्य खुल्लम-खुल्ला, दूसरे को मालूम हो जाय इस तरह वैर लेने का प्रयत्न करते हैं। यह रीति कुछ न कुछ अच्छी है, क्योंकि इसमें दूसरे को हानि पहुँचाने की अपेक्षा उसे पश्चात्ताप कराने का ध्यान अधिक रहता है। दूसरी रीति यह है कि चुपचाप (अश्वत्थामा की तरह) अँधेरे में तीर मार दिया जाय। यह रीति नीच तथा कपटी कायरों की है। एक विद्वान् ने बहुत ठीक कहा है कि मित्र बनकर जो मारे उसके लिये क्षमा है ही नहीं। वह कहता है कि धर्मशास्त्र में शत्रु को क्षमा करना लिखा है, मित्र को क्षमा करना नहीं। परंतु इससे जॉब का उपदेश कहीं अच्छा है। वह कहता है—"क्या परमेश्वर से हम सुख ही सुख लें, दुःख न लें?" इसी तरह मित्र का भी हाल समझना चाहिए। इतना निश्चय जानना चाहिए कि जो मनुष्य दूसरे के साथ मन में वैर रखता है वह अपना घाव हरा—खून और मवाद से तर ब तर—रखता है। क्षमा करने ही से यह घाव भर सकता है, और कोई उपाय नहीं।

(बेकन से।)

१०१—शमीक और परीक्षित

एक दिन राजा परीक्षित धनुष लेकर वन में शिकार खेलने गया। वहाँ मृगों के पीछे दौड़ते दौड़ते वह बहुत थक गया और उसे बहुत जोर की भूख प्यास लगी। चारों ओर खोजा पर कहीं जलाशय दिखलाई न दिया। अंत में एक ऋषि का आश्रम मिला। उसमें उसने एक ऋषि को तप करते देखा। ये ऋषि, जिनका नाम शमीक था, दोनों आँखें मींचकर, एकाग्र मन से, समाधि लगाए बैठे थे। प्यास से व्याकुल हुए राजा ने ऋषि से जल माँगा, पर समाधि में बैठे ऋषि को कुछ खबर न हुई। राजा एकदम क्रोधित हो गया और उसके जी में यह बुरा विचार आया कि यह कोई ढोंगी है। यह सोचकर उसने पास पड़ा हुआ एक मरा हुआ सर्प धनुष की नोक से उठाकर ऋषि की गरदन में डाल दिया और आगे बढ़ा। ऋषि का एक पुत्र बालकों के साथ खेल रहा था। जब उसने यह बात सुनी तो बड़ा क्रोधित हुआ और राजा को शाप दिया—"ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को द्वारपाल बनाया है। द्वारपाल स्वामी का अपमान करे तो वह कैसे सहा जा सकता है? इसलिये मेरे पिता के कंठ में मरा सर्प डालनेवाले परीक्षित राजा को आज से सातवें दिन तक्षक नाग डसेगा और राजा मर जायगा।" यह कहकर ऋषिकुमार आश्रम में आया और

अपने पिता की गरदन में मरा हुआ साँप देखकर चीख़ चीख़कर रोने लगा। पुत्र का विलाप सुनकर ऋषि समाधि से जाग पड़े और धीरे धीरे आँख खोलकर देखा तो कंठ में मृत सर्प दिखलाई दिया। उसे फेंककर ऋषि ने पुत्र से पूछा—"क्यों भाई, क्यों रोता है?" पुत्र ने सब हाल कहा। शमीक ऋषि ने पुत्र को धन्यवाद न देकर कहा—"अरे अज्ञानी, तूने बड़े पाप का काम किया जो तनिक अपराध के लिये ऐसी कड़ी सजा दी। तूने यह न सोचा कि इस सजा से दुनिया की कितनी हानि होगी। जिसके बल से रक्षित प्रजा निर्भय रहकर सुख पाती है, ऐसा राजा यदि न रहे तो यह जगत् चोर और लुटेरों से भर जाय, मनुष्य एक दूसरे के साथ लड़ें, एक दूसरे को मार डालें और एक दूसरे की संपत्ति उड़ा लें। अरे, मनुष्य न रहकर हमारी दशा कुत्ते बंदरों जैसी हो जाय। राजा भूख प्यास और थकान से व्याकुल हो रहा था, तुझमें इतना भी धीरज न रहा कि ये सब बातें सोच लेता!"

(१) घबराहट के समय भी यह विचारना चाहिए कि मैं क्या करता हूँ।

(२) जगत् में सभी जगह ढोंग है, और हम अच्छे और दूसरे सब बुरे हैं, यह बुरा विचार कभी न लाना चाहिए।

(३) छोटेसे अपराध के लिये बड़ा दंड देना उचित नहीं है; यह देख लेना चाहिए कि अपराधी ने कैसी दशा में अपराध किया है। यह न भूलना चाहिए कि अपने मान या

अपमान के लिये शिक्षा देने में संसार को कितना सुख हुआ है सकता है।

(४) जन समाज में कुछ न कुछ काम के सभी हैं। यह सम झना भूल है कि ब्राह्मण ऊँचे हैं और क्षत्रिय नीचे।

(५) भगवान् के भक्त शक्तिमान् होकर भी किसी के साथ बुरा नहीं करते।

(६) इस पाठ में क्षमा के साथ राजभक्ति का जो उपदेश उसे बालकों को समझाना चाहिए।

१०२—लाईकर्गस का संयम

पहले लाईकर्गस नाम का स्पार्टन लोगों का एक नेता था। लोगों को सदाचारी और सुदृढ़ बनाने के लिये उसने बड़े कड़े नियम बनाए थे, यहाँ तक कि लोगों को भाँति भाँति के भोजन करने की भी आज्ञा न थी। खाट पर चादर बिछाने वा अच्छा अच्छा सामान घर में रखने की मनाई थी। उसके नियम अब जो हम देखते हैं तो बड़े कड़े मालूम होते हैं, पर उस समय के लोगों को इस बात की जरूरत थी कि अपनी जाति की रक्षा के लिये मजबूत और बहादुर बनें। उन नियमों के अनुसार चलने से लोगों का बहुत कुछ भला हुआ था। पर कठिन नियमों का पालना किसे अच्छा लगता है? इस कारण कितनी ही बार लोग उससे नाराज हो जाते थे। एक बार तो कितने ही लोगों ने बड़ा ऊधम मचाया। एक बोला—"यह दु

हमारे खाने पीने में भी बाधा डालता है।" दूसरा बोला—"यह हमें अपने आराम की एक चीज़ भी घर में नहीं रखने देता।" तीसरा कहने लगा—"अँधेरे में चलते समय दीया तक नहीं लेने देता।" एक तो चिढ़ कर बोल उठा—"मारो इस दुष्ट को।" इस आवाज़ पर लोगों ने तुरत उस पर पत्थर बरसाना शुरू कर दिया, जिससे उस बेचारे को पास के एक मंदिर में जाकर छिपना पड़ा। मंदिर की सीढ़ियों पर चढ़ते चढते उसे एक ने घेर लिया और उसके सिर में एक लठ जमा ही तो दिया। रक्त खूब बहने लगा, पर लाईकर्गस बिलकुल शान्त रहा। जब उसने अपना मुख लोगों की ओर फेरा, तो रक्त बहता देखकर लोगों को अपनी नीचता का ध्यान हुआ और सब पछताने लगे। लठ मारनेवाले पर सबको क्रोध हो आया, उन्होंने उसे पकड़ लिया और लाईकर्गस के सुपुर्द करके कहने लगे—"यह मनुष्य तुम्हारे अधीन है जो चाहो इसे दंड दो।" लाईकर्गस ने उसके साथ बुरा बर्ताव करने के बदले उसे अपने यहाँ नौकर रख लिया। तब उस मनुष्य को लाईकर्गस का जीवन साफ साफ देखने का अवसर मिला। लाईकर्गस स्वयं कितना सादा, मेहनती और कष्ट सहनेवाला है, और बाहर से कड़ा और कठोर जान पड़ता है परंतु अंदर से कैसा कोमल और कृपालु है—इन सब बातों को उसने अपनी आँखों से देख लिया।

(१) लाईकर्गस जिन नियमों को दूसरों से पालने को कहता था उन्हें स्वय भी पालता था। इसी कारण वह घबराहट और क्रोध के अवसर पर भी शाति—सच्चे हृदय की क्षमा—रख सका।

(२) मनुष्य का बाहरी बाना ही नहीं देखना चाहिए, उसका भीतरी बाना भी देखना चाहिए। ऐसा करने से बहुतसे ऐसे अवसर आते ही नहीं जिन पर क्षमा न किया जाय।

(३) चाहे हम लाईकर्गस के नियम न पालें, पर उन नियमों के तत्त्व तो हमें पालने ही चाहिएँ। हमारे तन-मन जितने सादे और कष्ट सहनेवाले हों उतना ही अच्छा।

१०३—जैसा अपना वैसा पराया

एक राजा के यहा बहुतसे नौकर थे। मालिक के साथ उनका ऐसा संबंध था जैसा कुनबेवालों के साथ होता है। उनके साथ वह रुपए का लेन देन भी करता था। एक बार उनके हिसाब देखे गए तो एक नौकर पर एक हज़ार रुपया निकला। उस नौकर को राजा के पास पेश किया गया। परंतु उसके पास चुकाने को रुपया नहीं था इसलिये राजा ने आज्ञा दी कि उसकी स्त्री और बाल-बच्चों को बेचकर रुपया लिया जाय। नौकर राजा के पैरों पर गिरा और कहने लगा—"राजाजी, क्षमा कीजिए, मुझे एक वर्ष की मोहलत दीजिए, इसके अंदर मैं आपका रुपया चुका दूँगा।" राजा को दया आई। उसने उसका

उधार माफ कर दिया। कुछ दिनों बाद यही नौकर अपने एक साथी से, जिस पर उसके पाँच रुपए आते थे, तक़ाज़ा करने गया। उस समय उसके घर में बीमारी थी इसलिये उसने तुरंत रुपया चुकाने से इंकार किया। इस पर राजा के उस नौकर ने उसकी गरदन पकड़ ली और उसे मारने की धमकी दी। वह उसके पैरों पर गिर गया और कुछ दिन और ठहरने की विनती करने लगा। पर लेनदार पर कुछ असर न हुआ। उसने नालिश कर दी और अदालत से आज्ञा लेकर उसे क़ैद में भेज दिया। जब यह सब हाल राजा ने सुना तो उस नौकर को बुलवाया और कहा—"अरे दुष्ट, तूने मुझसे विनती की और मैंने तेरा सारा क़र्ज़ माफ कर दिया, और तू अपने भाई पर ऐसी बेरहमी करता है? सिपाहियो, जाओ, इस दुष्ट को जेलख़ाने में क़ैद करो और जब तक यह अपना कुल उधार चुका न दे तब तक इसे न छोड़ो।"

तुम अपने भाई पर दया न करोगे तो ईश्वर भी तुम्हारे ऊपर न करेगा।

१०४—न्याय या दया

भूमध्यसागर के किनारे वेनिस नाम के सुंदर नगर में एंटोनियो और बेसेनियो नाम के दो मित्र रहते थे। एंटोनियो एक अमीर व्यापारी था। समुद्र के रास्ते पूर्व के

देशों के साथ उसका खूब व्यापार चलता था और उसके जहाज बड़ी बड़ी दूर का सफर करते थे। पोर्शिया नाम की एक रुपयवाली कन्या के साथ वेसेनियो का बड़ा प्रेम हो गया था, परंतु स्वयं गरीब होने के कारण उससे मिलने के लिये बहुत ही कम जा सकता था। एक बार उसने एंटोनियो से कहा—"भाई, कुछ रुपया दो तो मैं पोर्शिया से मिल आऊँ।" एंटोनियो का कुल रुपया उसके जहाज में था, वह वेसेनियो को पोर्शिया के यहाँ जाने को रुपए न दे सकता था। इसलिये उसने शाइलोक नाम के एक यहूदी सराफ से उसे रुपए दिलवा दिए। शाइलोक ने हँसी हँसी में कहा—"भाई देख, मैं तेरी तरफ से रुपए तो जरूर देता हूँ, पर जो मेरा रुपया तीन महीने में न चुकाया गया तो मैं तेरे शरीर का एक सेर मांस काट लूँगा।" शाइलोक कितना बदमाश है यह वेसेनियो खूब जानता था, और इस-लिये उसने एंटोनियो को ऐसी हामी भरने से मना किया, परन्तु एंटोनियो को पूरा विश्वास था कि उसका जहाज तीन महीने से पहले ही वापस आ जायगा। उसे वेसेनियो पर स्नेह भी बहुत था, इसलिये उसने खुशी से वह शर्त क़बूल कर ली। उसने इस बारे में एक दस्तावेज़ भी लिखकर शाइलोक को दे दी। वेसेनियो यह रुपया लेकर पोर्शिया के पास गया। इस बीच में पोर्शिया का बाप मर गया था और मरते समय पोर्शिया से कह गया था

कि "मैं तुझे सोने, चाँदी और सीसे की ये तीन सदूकें देता हूँ। उनमें से हरएक के ऊपर एक एक लेख है। उनम से एक के भीतर मेरी तसवीर है। तेरे पास रुपया देखकर बहुतसे आदमी तुझसे विवाह करने आवेंगे, परन्तु तू उन्हें ये सदूकें दिखला दीजियो और उनमें से किसी एक को पसन्द करने को कहियो। जिसकी पसद की हुई सदूक में तेरी तसवीर निकले उसी से शादी कीजियो।" सोने की सदूक पर यह लिखा था—"बहुतों को पसन्द।" चाँदी की संदूक पर लिखा था—"तुम्हारी पसंद।" और सीसे की सदूक पर लिखा था—"सब खोकर।" बेसेनियो के आने से पहले पोर्शिया के पास एक एफ्रीका का राजा और दूसरा फ्रास का, दो राजा आ चुके थे। एफ्रीका के राजा ने समझा कि बहुतों को पसद और क्या होगा? पोर्शिया की तसवीर ही होगी। यह सोचकर उसने सोने की सदूक खोली। अदर पोर्शिया की तसवीर के बदले ये शब्द निकले—"चमकनेवाली सभी चीजें सोना नहीं होतीं।" फ्रास का राजा अभिमानी था, उसने सोचा कि मेरे योग्य सिवा पोर्शिया के और कौन हो सकता है? यह समझकर उसने चाँदी की सदूक ली। लेकिन उसमें भी पोर्शिया की तसवीर न निकली, ये शब्द निकले—"सब ही सफेद चीजें दूध नहीं होतीं।" इस तरह दो उम्मेदवारों की तो यह दशा हुई, लेकिन बेसेनियो की क्या दशा होगी यह सोचती हुई पोर्शिया बैठी थी, इतने ही

में बेसेनियो आ पहुँचा और पोर्शिया ने पिता की आज्ञानुसार उसे भी तीनों संदूकों की कसौटी पर कसा। बेसेनियो के मन में यह था कि सब खोकर—इस संसार के सर्वस्व का त्याग करना पड़े—तो भी मुझे पोर्शिया से विवाह करना है। उसे अपने मन का यह भाव सीसे की संदूक पर लिखा हुआ दिखलाई पड़ा, इसलिये उसने उसी को पसंद किया। खोलकर देखा तो भीतर पोर्शिया की तसवीर नज़र आई। इससे पोर्शिया और बेसेनियो दोनों को बड़ी खुशी हुई। विवाह का दिन निश्चय किया गया। इतने में अभाग्यवश वेनिस से एक पत्र आया जिसमें लिखा था कि एंटोनियो का जहाज़ तूफान में पड़ गया है और शाइलोक के रुपए देने की मियाद पास आ गई है। यह पढ़ते ही बेसेनियो घबरा गया और निश्चय किया कि मेरे मित्र एंटोनियो के ऊपर शाइलोक ज़ुलम करे इससे पहले ही मैं प्राण दे दूँगा। उसने पोर्शिया से वेनिस जाने की आज्ञा माँगी। पोर्शिया ने कहा—"मुझसे शादी करके मेरा सब धन ले जाओ और शाइलोक जो माँगे वह उसे देकर अपने मित्र को बचाओ।" बेसेनियो ने पोर्शिया के साथ विवाह किया और शाइलोक को देने के लिये द्रव्य लेकर वेनिस की ओर रवाना हुआ। परंतु उसके पहुँचने से पहले ही शाइलोक ने एंटोनियो को कैद में डलवा दिया था। बेसेनियो के आने के बाद वेनिस के राजा के यहाँ काररवाई

शुरू हुई। एंटोनियो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना मांस कटाने को तैयार हो गया। राजा को उस पर दया आई और उसने शाइलोक को बहुत कुछ समझाया, पर एंटोनियो बड़ी उदारता से गरीबों को रुपए उधार देता था, इसलिये लोभी शाइलोक उससे बहुत दिनों से जलता था। एंटोनियो की उदारता के कारण प्रायः शाइलोक अपने असामियों से मनमाना रुपया वसूल न कर पाता था। उसने राजा की सलाह न मानी। बेसेनियो दूना रुपया देने को तैयार हो गया, परंतु तो भी द्वेषी शाइलोक ने उसे लेने से इकार किया और यही हठ करने लगा कि मुझे तो एंटोनियो का सेरभर मांस काट लेने दो। राजा ने कहा—"अरे भले आदमी, तू दूसरों पर दया नहीं करेगा तो ईश्वर तुझ पर दया कैसे करेगा?" शाइलोक ने जवाब दिया—"मुझे दया नहीं चाहिए, मुझे तो न्याय चाहिए।" राजा यह उत्तर सुनकर बड़ा चकराया। इतने ही में एक वकील कचहरी में आया और यह ठहरी कि इस मामले में उसकी सलाह ली जाय। उसने दोनों ओर का हाल सुना और शाइलोक से दया करने की प्रार्थना की। इधर बेसेनियो ने दसगुने रुपए सामने रख दिए, परन्तु शाइलोक उन्हें भी लेने पर राज़ी न हुआ। उस विद्वान् वकील ने एंटोनियो से अपनी छाती खोलने को कहा। सुनते ही शाइलोक का तो रोम रोम [illegible] गया,

वह बार बार "वाह, वाह", "शाबाश, शाबाश" कहने लगा। वकील ने शाइलोक से पूछा—"क्यों, तुम्हारे पास मांस काटने को छुरी और तोलने को तराजू है?" शाइलोक ने कहा—"हाँ, मैं सब सामान घर से लेता आया हूँ।"

"काटने के बाद इसकी मरहमपट्टी करने के लिये डाक्टर को लाए हो?"

"यह मेरे इकरारनामे में नहीं है।"

"अच्छा, अब अदालत की आज्ञा है कि तुम एंटोनियो की छाती में से एक सेर मास काट लो, परन्तु ऐसा करने में अगर रक्त की एक बूँद भी टपकी तो तुम्हारी कुल जायदाद ज़ब्त कर ली जायगी।" यह हुक्म सुनते ही शाइलोक चकरा गया। ऐसे मास कैसे कट सकता है कि खून की एक बूँद भी न टपके? इससे उसने अपना हठ छोड़ दिया और कहा—"भाई, मुझे मेरे रुपए का तिगुना लौटा दो—काफी है।"

वकील ने कहा—"नहीं, तुझे तो न्याय चाहिए।"

"अरे साहब, मुझे मेरी मूल रक़म ही दिलवा दो, इतना ही बहुत है। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

"अरे दुष्ट, अब सवाल जवाब का क्या काम? तुझे न्याय चाहिए।"

यह सुनते ही शाइलोक कचहरी से जाने लगा, किंतु उस वकील ने उसे रोककर कहा—"अभी मुकदमा खतम

नहीं हुआ, जाता कहाँ है ? अगर कोई परदेसी यहाँ की रैयत की जान लेने का यत्न करे तो उसको फाँसी की सज़ा दी जाती है और उसका माल जब्त कर लिया जाता है। तुझे तो न्याय ही चाहिए।" ये शब्द सुनते ही शाइलोक तो 'हायरे' करके रो पड़ा और दया के लिये प्रार्थना करने लगा। उदार एंटोनियो ने राजा से प्रार्थना की कि उसे फाँसी न दी जाय और निवेदन किया कि उसकी जायदाद में से जो आधा माल मुझे मिलने को है वह उसे ही दे दिया जाय, नहीं तो जब्ती के कारण उसकी छाती फट जायगी और वह मर जायगा।

यह वकील कौन था ? पुरुष-वेष में पोर्शिया ! उसने कचहरी से एकदम घर जाकर वेष बदल लिया, और जब बेसेनियो घर आया तब उससे अपनी शादी की अँगूठी माँगी। लेकिन बेसेनियो देता कहाँ से ? वह तो वकील को मिहनताने में दे चुका था। पोर्शिया ने वह अँगूठी अपनी अँगुली में से निकालकर बेसेनियो को दी। बेसेनियो ने उसे पहचाना और समझा कि यह सब उपकार पोर्शिया ने ही किया है।

(१) मित्र का प्रेम, ऋण का दुःख, दया की आवश्यकता और संसार में बुद्धिमती स्त्री की सहायता—यह सब इस कथा में दिखलाया गया है।

(२) एंटोनियो ने अपने मित्र के लिये कैसी जोखिम अपने सिर पर ली। मित्र के कारण संकट आ पड़ने पर भी उसने मुँह

तक नहीं बिगाड़ा। बेमन से दोस्ती निबाहना मित्रता नहीं है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

(३) ऋण का दुःख भी कैसा होता है, यह समझना चाहिए। 'उस समय वह रुपया मिलेगा'—इस आशा से उधर कर लेना, और वह भी शाइलोकजैसे दुष्ट से, कितनी बड़ी भूल है! इस कथा से यह बात समझ में आवेगी।

(४) दुष्ट मनुष्य दूसरों को परोपकार करते भी नहीं देख सकता।

(५) लोभ से द्वेष अधिक प्रबल है; देखो शाइलोकसरीखे लोभी को भी रुपए लेने से प्राण लेना ज़्यादा अच्छा लगा। चाहे अपने को कुछ भी न मिले तो भी द्वेषी मनुष्य दूसरे की हानि में ही आनंद पाता है।

(६) पोर्शिया बेसेनियो को चाहती थी, पर तो भी उसने अपने पिता की आज्ञा मानकर आर्थियों की परीक्षा की। उसने मूर्ख वा अभिमानी बड़े आदमी से नहीं, प्रेम के लिये सर्वस्व त्याग करने को तैयार बेसेनियो से विवाह किया। उसने यही इच्छा की कि उसका स्वामी मित्रधर्म में चूकने न पावे और इसीलिये उसने उदारता और चतुरता से जहाँ तक बन पड़ा सहायता की।

(७) हम अनगिनती दोषों से भरे हैं। ईश्वर से न्याय की इच्छा करने से हमारा काम नहीं चल सकता। उसकी दया होने पर ही हमारा उद्धार हो सकता है। इसलिये न्याय से दया का धर्म ऊँचा है। यह इस कथा का मुख्य उपदेश है।

(८) जो उदार मनुष्य मित्रता निबाहना जानता है, वह शत्रु को क्षमा करना भी जानता है।

१०५—वचनामृत

दया धर्म का मूल है, पाप-मूल अभिमान,
तुलसी दया न छोड़िए जब लग घट में प्रान।
जहाँ दया तहँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप,
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ छिमा तहँ आप।
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय,
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय।
ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय,
औरन कौं सीतल करै, आपहु सीतल होय।

१०६—हजरत अली की क्षमा

एक दिन हजरत अली कूफा शहर की मसजिद में सुबह की नमाज पढ़ रहे थे। इब्न मुलज़िम, जो पहले उनके लश्कर में था और लड़-झगड़कर भाग गया था, छिपकर मसजिद में आया। जिस समय सब लोग हज़रत अली के साथ नमाज़ पढ़ने में लगे हुए थे उसने झपटकर हजरत अली पर हमला किया और जहर से बुझी हुई तलवार से तीन घाव किए। लोगों ने जल्दी से नमाज़ पूरी की। कितने ही लोगों ने हज़रत अली को उठाया और कितने ही हमला करनेवाले को पकड़ने दौड़े और उसे पकड़कर सामने लाए। उसी समय कुछ लोग हज़रत अली के लिये शरबत का प्याला तैयार करके लाए। उन्होंने कहा कि यह

शरबत पहले मेरे खूनी को दो, क्योंकि दौड़ने से वह हाँफ रहा है और प्यासा मालूम होता है।

१०७—अपकार के बदले उपकार

पहले अंबरीष नाम का एक महान् राजर्षि हो गया है। पृथ्वी का महाराज्य और अतुल वैभव—जो साधारण मनुष्य को स्वप्न में भी मिलना कठिन है—पाने पर भी वह उनमें लिप्त नहीं हुआ। यह समझकर कि यह सब वैभव अंत में नाशवान् है वह सदा तन, मन और धन से प्रभु की सेवा किया करता था। एक समय उसने और उसकी रानी ने एक वर्ष तक द्वादशी का व्रत किया। व्रत के अंत में ज्यों ही उसने पारना आरंभ की त्यों ही साक्षात् दुर्वासा ऋषि उसके यहाँ आ पधारे। राजा उठ खड़े हुए, उन्हें आसन दिया और दंडवत् कर भोजन करने की प्रार्थना की। दुर्वासा ने राजा की प्रार्थना स्वीकार की और स्नान करके आने को कहकर नदी की ओर गए। वहाँ ऋषि ने घंटों लगा दिए। यहाँ अंबरीष राजा बड़ा चकराया। सब ब्राह्मणों की पगत बैठी राह देखती है, कब तक देरी की जाय—यह सोचकर उसने ब्राह्मणों को जिमा दिया। शास्त्र का नियम है कि द्वादशी के अंदर ही पारना होनी चाहिए इसलिये उसने भोजन तो न किया, हाँ, कुछ जलपान करके

देखकर बहुत क्रोधित हुए और भौं चढ़ाकर बोले—"अरे दुष्ट अभिमानी, लक्ष्मी से उन्मत्त राजा, तूने मुझे अतिथि की तरह निमंत्रित किया और फिर भी मुझे भोजन कराए विना तूने खा लिया! तेरे अभिमान का फल मैं तुझे अभी चखाता हूँ।" यह कहकर उन्होंने अपनी जटा फटकारी और उसमें से एक जलती हुई कृत्याशक्ति निकालकर राजा के ऊपर छोड़ी। वह राजा के ऊपर आई, पर राजा वहाँ से एक डग भी न हटा। विष्णु भगवान् ने भक्त अंबरीष की रक्षा के लिये सुदर्शनचक्र भेजा। चक्र ने उस कृत्या को ऐसे जला डाला जैसे आग झल्लाए हुए सर्प को जला डालती है। चक्र को देखकर दुर्वासा जान लेकर भगे, पर चक्र उनके पीछे पड़ गया। आकाश में, पृथ्वी पर, गुफाओं में, समुद्रतल में जहाँ जहाँ दुर्वासा भागकर गए वहीं चक्र को अपने पीछे देखा। "मेरी रक्षा करो, रक्षा करो—" यह कहते हुए वह ब्रह्मा, शिव और अंत में विष्णु की शरण गए परंतु किसी ने उन्हें आश्रय नहीं दिया। दुर्वासा विष्णु के पास गए और उनसे कहा—"भगवान्, आपका चक्र मुझे जलाए डालता है, इसे आप पीछे खींच लीजिए।" भगवान् ने उत्तर दिया—"हे ब्राह्मण मैं तो भक्त के वश में हूँ। भक्त मेरे हृदय हैं और मैं भक्तों का हृदय हूँ। वे मेरे सिवा किसी दूसरे को नहीं जानते, ऐसे ही मैं भी उनके सिवा दूसरों को नहीं

जानता। तो भी तुम्हें एक उपाय बतलाता हूँ सो सुनो। तुम अंबरीष के पास जाओ और उस भक्तराज से क्षमा माँगो। इस संकट से यह उपदेश लो कि जो शक्ति सज्जनों को हानि पहुँचाने में लगाई जाती है वह उलटे उसी का नाश करती है जो हानि पहुँचाना चाहता है। तप और विद्या ब्राह्मण के भूषण हैं, पर बिना विनय और शांति के वे व्यर्थ हैं।" इस प्रकार भगवान् के वचन सुनकर दुर्वासा अंबरीष के पास गए और उनके पैरों पड़े। राजा अंबरीष शरमा गए, पानी पानी हो गए और दुर्वासा का दुःख निवारण करने के लिये प्रभु के चक्र की स्तुति करने लगे। चक्र शांत हो गया, दुर्वासा संकट से छूट गए और राजा की स्तुति करने लगे। परंतु राजा ने उन्हें रोक दिया, और स्वयं उनके पैरों पड़कर उन्हें भोजन कराया।

(१) राजसिंहासन पर बैठकर भी, अनेक वैभवों से घिरा हुआ रहकर भी, मनुष्य ईश्वर की भक्ति कर सकता है। सर्वस्व त्याग करके वन में जाने से ही प्रभु मिलता हो, सो बात नहीं।

(२) ईश्वर की भक्ति स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर करें, ऐसी हमारे यहाँ की प्राचीन रीति है।

(३) अतिथिसत्कार गृहस्थाश्रम का धर्म है।

(४) स्वयं इतने आदमियों को बैठाए रक्खा, यह सोचकर सबसे क्षमा माँगनी चाहिए थी, उसके बदले दुर्वासा ने उलटा निर्दोष को दोषी ठहराया। यह नीच वृत्ति है।

(५) दुर्जन सज्जन को हैरान करता है तो भी सज्जन हाथ नहीं उठाता, परंतु ईश्वर उसकी रक्षा तुरत करता है।

(६) सुदर्शन, दुर्जनों को मारनेवाला और सज्जनों की रक्षा करनेवाला, इस जगत् में व्याप्त, ईश्वर का महान् नियम है।

(७) सब धर्मों का मूल है परमात्मा—उसने सज्जनों की रक्षा करने का धर्म स्वीकार किया है, क्योंकि, उसके कहे अनुसार, सज्जन उसका हृदय हैं और वह सज्जनों का हृदय है, अर्थात् दोनों एक दूसरे को अत्यत प्रिय हैं।

(८) किसी से द्रोह करके ईश्वर से क्षमा माँगना काफ़ी नहीं। जिससे द्रोह किया हो उससे क्षमा माँगे विना, पश्चात्ताप पूरा नहीं होता। इसलिये पहले उससे क्षमा माँगकर शुद्ध होना चाहिए।

(९) अपकारी पुरुष को क्षमा माँगने आया देखकर सज्जन को गर्व नहीं होता, वह उलटा शरमा जाता है।

(१०) सज्जन अपने को हानि पहुँचानेवाले दुर्जनों के भी दुःख की इच्छा नहीं करते। इसके विपरीत, वे उनके सुख की ही इच्छा करते हैं, और "वे सुखी हों" ऐसी प्रार्थना ईश्वर से करते हैं।

१०८—भ्रातृभाव

जुनैद नाम का एक सूफी फ़क़ीर था। उसका प्रेमलक्षणा भक्ति का उपदेश पुरानी चाल के मुल्लाओं को बहुत नापसंद आया। उन्होंने सलाह करके खलीफा को यह सुझा दिया कि जुनैद और उसके साथी इधर-उधर बदचलनी फैलाते फिरते हैं और असली मुसलमान धर्म का सत्यानाश किए डालते हैं। इस पर जुनैद और उसके शिष्य पकड़वाकर दरबार में बुलाए गए और सबको एक पंक्ति में बैठाकर हुक्म दिया गया कि एक के बाद दूसरे का, नजर से, सिर

उड़ा दो। इनमें से एक आदमी के गले पर तलवार चलने-वाली ही थी कि इतने में उसके पास बैठा हुआ उसका साथी आकर उसकी जगह बैठ गया। सभी क़त्ल किए जाने को थे और एक दो मिनट के आगे पीछे-सभी की बारी आती। इस पर भी एक आदमी को दूसरे की जगह मरने के लिये आतुर देखकर ख़लीफा को अचरज हुआ। उसने कहा—"तू जिंदगी की क़द्र नहीं करता, नहीं तो इस तरह मरने के लिये उतावला न होता।" उस मनुष्य ने जवाब दिया—"यह बात नहीं, मैं जिंदगी को ईश्वर की क़ीमती से क़ीमती बख़्शिश समझता हूँ। पर अपने सुख के आगे अपने भाई के सुख की ज्यादा इच्छा करना हमारा सिद्धांत है और, जीवनजैसी क़ीमती चीज़ मेरी अपेक्षा मेरा भाई ज्यादा भोगे, इसीलिये मैं उसकी जगह आ बैठा हूँ।" यह सुनकर ख़लीफा ने सज़ा मुलतवी कर दी और काज़ी को हुक्म दिया कि इस सूफ़ी के बारे में और तहक़ीक़ात करो। काज़ी ने पूछा—"एक आदमी के पास यदि बीस मोहरें हों तो आपके धर्म के अनुसार उसे उनमें से कितनी खेरात करनी चाहिए?" दरवेश ने जवाब दिया—"बीस और उसके ऊपर आधी।" क़ाज़ी बोला—"अरे मूर्ख, तू शरा (धर्मशास्त्र) नहीं जानता।" दरवेश ने उत्तर दिया—"मैं शरा से ज्यादा जानता हूँ। 'मनुष्य को अपनी जायदाद का इतना हिस्सा देना चाहिए'—

यह कहकर ही धर्मशास्त्र रुक जाता है, पर धर्म के प्रेम में यह क़ायदा नहीं। वह तो यह बतलाता है कि सर्वस्व दे डालो।" क़ाज़ी ने कहा—"ठीक, लेकिन इस क़ायदे से तो बीस ही मोहरें दी जायँगी, बीस के ऊपर जो आधी बतलाई वह कैसी ?" दरवेश बोला—"झिझकने के दंड की।"

(१) प्रेम, माया की भी परवा नहीं करता।"

(२) प्रेम ऐसा उदार है कि वह स्वार्थत्याग में "इतना या उतना" का ख़याल नहीं करता। जो प्रेम कर्तव्य की हद बाँधता है वह अधूरा प्रेम है, बल्कि प्रेम है ही नहीं।

(३) प्रेम में झिझक या सकोच दंड के योग्य है।

(४) प्रेम—सच्चा प्रेम—यही ईश्वर का प्रेम है। इस प्रेम में से सच्ची नीति निकलती है और इस नीति के लिये यदि सुख का भोग भी त्यागना पड़े तो उसे निस्सकोच और निस्सीम त्यागना चाहिए, यह नियम नीति में ठीक नहीं जँचता कि इतना देना और इससे अधिक न देना।

(५) "पोर्टुगीज़ भाइयों की कथा"—आदि विशेष कथाएँ शिक्षक को और सुनानी चाहिएँ।

१०६—माता की शिक्षा

एकचक्रानगरी में पाडव लोग कुंती के साथ एक ब्राह्मण के घर रहते थे और भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करते थे। जो भिक्षा मिलती उसे माता के सामने रखते और माता सबको बाँट देती। आधा भाग युधिष्ठिर, अर्जुन,

नकुल, सहदेव और कुंती खाते और बाक़ी आधा भीमसेन खाता। एक दिन कुंती के पास भीमसेन बैठा था और बाक़ी पांडव भिक्षा माँगने गए थे; इतने ही में उस ब्राह्मण के घर से बड़े शोक से भरी हुई आवाज़ आई। दयावती और साध्वी कुंती ने जब ब्राह्मण के घर के लोगों का विलाप सुना तो उससे न सहा गया। दुःख से उसका जी पिघल गया और वह भीमसेन से बोली—"हे पुत्र, हम लोग इस ब्राह्मण के यहाँ इस तरह से छिपकर रहते हैं कि जिससे धृतराष्ट्र न जानने पावे, और यह ब्राह्मण हमारा बड़ा आदर-सत्कार करता है। यहाँ हमें किसी तरह का कष्ट भी नहीं है, इसलिये मैं सदा यही सोचा करती हूँ कि इस ब्राह्मण के उपकार का बदला कैसे चुकाया जाय। मालूम पड़ता है कि इस पर कोई बड़ा भारी दुःख आया है, अगर हम इसकी कुछ सहायता करें तो इसके उपकार का कुछ बदला चुक जाय।" भीमसेन बोला—"माता, तुम्हारा कहना ठीक है, तुम उसका दुःख पूछ आओ तो उसके दूर करने का प्रयत्न मैं कर दूँगा।"

ब्राह्मण के कुटुंब में, उसके अलावा, उसकी स्त्री, एक लड़की और एक लड़का और थे। नगर से बाहर एक राक्षस रहता था जो हमेशा इस नगर के एक मनुष्य को खाया करता था। आज इस ब्राह्मण के कुटुंब में से एक प्राणी को राक्षस के पास भेजने की बारी आई थी, इसीलिये ब्राह्मण

के यहाँ रोना पीटना मच रहा था। सबसे अधिक अवस्था-वाला होने के कारण ब्राह्मण जाने को तैयार था। ब्राह्मणी यह हठ कर रही थी कि तुमसे पहले मैं मरूँगी। लड़की कहती थी कि तुम दोनों मेरे भाई का पालन पोषण करो और मुझे ही राक्षस के पास जाने दो। लड़का कहता था—"हे पिता, हे माता, हे बहन, तुम लोग रोओ मत, मैं इस लकड़ी से राक्षस को मार डालूगा।' लड़के के ऐसे तोतले वचन सुनकर दु ख में भी सबको हँसी आ गई।

कुंती ब्राह्मण के पास गई और सब हाल सुनकर बोली—"महाराज, तुम कुछ दु ख न करो। मेरे पाँच लड़के हैं, उनमें से एक राक्षस के पास चला जायगा।" ब्राह्मण बोला—"अपनी जान बचाने के लिये मैं कभी ऐसा न होने दूँगा।" लेकिन कुंती ने भीमसेन के बल के बारे में उससे बहुतसी बातें कहीं और उसे समझाया कि ईश्वर ने चाहा तो मेरा पुत्र उस राक्षस को मार आवेगा। तब ब्राह्मण ने कुंती की बात मानी। कुंती ने भीम को सब हाल बतलाया और वह फौरन् राक्षस से लड़ने को तैयार हो गया। इतने में युधिष्ठिर आदि दूसरे पांडव भिक्षा लेकर घर आए। सब बातें सुनकर युधिष्ठिर बोले—"माता, तुम दूसरे के पुत्र की खातिर अपने पुत्र को क्यों मरने को भेजती हो? क्या किसी शत्रु की सलाह से काम करती हो? या बार बार दु ख पड़ने से

तुम्हारी बुद्धि मारी गई है ?" इस पर क्षत्राणी माता कुंती ने युधिष्ठिर को नीचे लिखा हुआ उपदेश दिया—

"पुत्र, तू भीमसेन के लिये तनिक भी सोच न कर। यह काम मैंने अपने सिर पर ले लिया है इससे यह न समझ कि मेरी बुद्धि मारी गई है। हे पुत्र, हम लोग इस ब्राह्मण के घर में सुख से इस तरह रह रहे हैं कि कौरवों को हमारी खबर तक नहीं। यह ब्राह्मण हमारी सब तरह से खातिरदारी करता है। यहाँ हमें कोई भय नहीं। इन सब बातों का बदला देने का आज अवसर मिला है। दूसरे का किया हुआ उपकार बदला देने से चुक नहीं जाता, परंतु उसके बदले दूना उपकार करना हमारा कर्तव्य है, और जो ऐसा करे वही सच्चा मनुष्य है।"

(१) कुटुंब को एकता के साथ रहना चाहिए और ईश्वर की दी हुई रोटी बाँटकर खानी चाहिए। सब अपनी अपनी भूख के अनुसार खायँ—ज़्यादा-कम खाने में कोई विषमता नहीं, बल्कि समानता है। कुटुंब में एक लड़का बुद्धिमान् निकले और उसकी शिक्षा के लिये दूसरों से अधिक व्यय करना पड़े तो दूसरों को ईर्षा न करनी चाहिए। बुद्धिमान् पढ़-लिखकर दूसरों से अधिक कमावे तो उसकी आय के अनुसार उसका कर्तव्य भी दूसरों से अधिक होता है। भीम दूसरों से अधिक खाता था और प्राण देने को भी सबसे पहले तयार रहता था।

(२) ब्राह्मण के कुटुंब की एकता देखो—हरएक कहता है कि मैं मरूँ, और लड़के को तो, मालूम होता है कि माँ के दूध में से ही हिम्मत आ गई हो।

(३) पहला उपकार जिसने किया उसने किया, उसके जवाब में दूसरा उपकार करने से पहले उपकार का पूरा पूरा बदला नहीं चुकता, क्योंकि उपकार का कोई जमाखर्च तो होता ही नहीं। हमारा धर्म है कि उपकार के बदले में जितना बने उतना उपकार करें। उपकार करने में यह आशा कदापि न रखनी चाहिए कि उपकार का बदला मिलेगा। इतना ही नहीं बल्कि जब कभी दूसरा मनुष्य उपकार का बदला चुकाने आवे उस समय भी बदले की इच्छा नहीं करनी चाहिए। देखो, ब्राह्मण क्या कहता है।

(४) लड़कों से स्नेह करना माता पिता का स्वभाव ही है। कोई भी माता पिता यह नहीं चाहते कि लड़कों को मरा हुआ देखें। लेकिन लड़कों के ऊपर सच्चा स्नेह उनमें सद्‌गुण और पराक्रम की इच्छा करना ही है।

११०—सिंह और कठफोड़ा

बुद्धदेव के बारे में एक ऐसी कथा है कि पूर्वजन्म में वे एक बार कठफोड़े के रूप में जनमे थे। उस रूप में भी वे वन में अनेक पशु पक्षियों का कल्याण करते थे। जो कोई संकट में पड़ जाता उसे इच्छित सहायता देते थे, इतना ही नहीं, जगह जगह सच्चे दुखियों को तलाश करके उनके दुःख दूर करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि एक सिंह के गले में हड्डी अटक गई जिससे उसे बड़ा कष्ट हुआ। कठफोड़े ने उसके पास जाकर पूछा—"वनराज, आप क्यों ऐसे उदास दीखते हो? थक गए हो या चोट खा गए हो? अपना कष्ट बतलाओ तो उसके दूर करने

का मैं प्रयत्न करूँ।" सिंह ने कहा—"पक्षी, मैं थक तो नहीं हूँ और न चोट ही खा गया हूँ, मुझे तो ए अजीब कष्ट है। शिकार खाते खाते एक हड्डी मेरे गले में अटक गई है और अब मुझसे खाया-पिया नही जाता। इसी से दिन पर दिन मैं घुलता जाता हूँ।" कठ फोड़ा बोला—"महाराज, कुछ चिंता न करो, अपना मुँह खोलो, मैं हड्डी निकाल दूँगा।" सिंह ने मुँह खोल दिया और कठफोड़े ने उसमें अंदर एक लकड़ी का टुकड़ा अड़ाया जिससे उसके अंदर जाने पर सिंह मुँह बंद न कर सके। तब वह मुँह के अंदर घुसा और हड्डी निकाल लाया। सिंह दु ख से छूटकर वन में घूमने लगा। अगले दिन कठफोड़े को बड़ी भूख लगी, लेकिन आसपास कुछ खाने को न मिला। वह सिंह के पास जाकर खड़ा हो गया और सोचने लगा कि अपने खाने में से शेर अवश्य एकआध टुकड़ा देगा। लेकिन सिंह ने उसकी ओर देखा तक नहीं। अंत में कठफोड़े ने बड़ी नम्रता से गिड़गिड़ाकर कहा—"महाराज, मुझे बड़ी भूख लगी है, मेरे ऊपर दया करो तो बड़ा अच्छा हो।" लेकिन रात-दिन दूसरों के प्राण लेनेवाले पशु को दया कहाँ से आवे? सिंह ने गरजकर जवाब दिया—"अरे मूर्ख, राजा के भोजन के समय बक बक करते तुझे कुछ डर नहीं लगता? उस दिन तूने अपने धूल लगे हुए पैर मेरे गले में रक्खे तब भी मैंने तुझे जीता छोड़ दिया,

यह उपकार क्या कुछ कम है ?" ये शब्द सुनते ही पक्षी अपने सुंदर पर फैलाकर उड़ गया, मानो उस सिंह से यह कहता हो कि "घर आया हुआ पुण्य तूने नहीं लिया, हम तो आकाश में मौज उड़ानेवाले हैं, यह उड़े ! हमारे लिये खाने की क्या कमी ।"

वनदेवता यह सब देख रहे थे, और सिंह की नीचता पर झुँझला रहे थे । पक्षीरूप में उड़ते हुए बुद्धदेव से उन्होंने कहा—"महाराज, आपने इस कृतघ्नी की आँख क्यों नहीं फोड़ डाली ?" बुद्धदेव ने उत्तर दिया—"बदला मिलने की आशा से किसी पर उपकार नहीं किया जाता। मैंने सिंह से ऐसी आशा ही नहीं रक्खी थी, और इससे मुझे उस पर क्रोध भी नहीं आया ।"

(१) उपकार एक प्रकार का दान है। उपकार का बदला चाहना व्यापार है, दान नहीं ।

(२) उपकार भूल जाना बड़ी भूल है, उपकार के बदले अपकार करना बड़ी भूल है, लेकिन ख़ासकर उपकार को अपकार समझना (जैसे सिंह का कठफोड़े से कहना कि तूने अपने धूल लगे हुए पैर मेरे गले में रक्खे) तो ऐसी दुष्टता है कि उसे किस नाम से पुकारा जाय यह भी नहीं सूझता ।

(३) सत्पुरुष अपने किए हुए उपकार का बदला माँगते ही नहीं । परंतु उसका बदला चुकाने का अवसर आने पर यदि कोई न चुकावे तो वह स्वयं अपना बोझ बढ़ाता है ।

(४) पृथ्वी का पशु क्या समझे कि आकाश में मौज उड़ाना क्या चीज़ है ! पापी मनुष्य पुण्यशाली की महिमा नहीं जानता ।

पुण्यशाली के लिये सब संसार पड़ा है, वह किसी बात का भूखा नहीं रहता। उसे जो कुछ चाहिए, ईश्वर देता है।

१११—अनाथ की रक्षा

पहले आर्यावर्त में शिवि नाम का एक राजा हो गया है। यदि कोई सबल निर्बल को सतावे तो निर्बल की रक्षा करना राजा का धर्म है। इसी के अनुसार शिवि राजा ने अनगिनती शरणागतों की रक्षा की थी, इसलिये उसकी कीर्ति दूर दूर तक फैल गई थी। एक बार वह यज्ञ-मंडप में बैठा था कि इतने में एक कबूतर और एक बाज़ (आगे कबूतर और पीछे बाज़) आकाश से उड़ते उड़ते उसके पास आए। भय से काँपता हुआ कबूतर राजा की गोद में आ छिपा। यह देख बाज़ राजा से बोला—"हे राजा, मैं भूखा हूँ और ईश्वर ने यह कबूतर मेरे खाने के लिये पैदा किया है, इसलिये तुम यह समझकर कि धर्म कर रहे हो, इसकी रक्षा मत करो और इसे मेरे सुपुर्द कर दो।"

राजा ने जवाब दिया—"अरे क्रूर पक्षी, यह ग़रीब तेरे डर से काँप रहा है और अपने प्राण की रक्षा के लिये मेरे पास आया है, इसे मैं तुझे कैसे दे सकता हूँ?"

बाज़ बोला—"हे महाराज, आहार से ही सब प्राणी पैदा होते हैं, जीते हैं और बढ़ते हैं। मनुष्य को धन बहुत प्यारा है पर वह भी अन्न के सामने कुछ नहीं; क्योंकि

धन बिना तो यह गुज़र कर सकता है लेकिन अन्न बिना तो जी ही नहीं सकता। हे राजा, तुमने मेरा भोजन छीन लिया है, इसलिये आज मैं जरूर मरूँगा और मेरा कुटुंब भी तितर-बितर हो जायगा। एक कबूतर की ख़ातिर तुम कितने प्राण लोगे! इसलिये मैं तुमसे कहता हूँ कि जहाँ धर्म में विरोध आता दीखे वहाँ छोटे-बड़े का विचार कर ऐसे धर्म का व्यवहार करना चाहिए जिससे विरोध न आने पावे। धर्म तथा अधर्म का निर्णय करते समय अधिकता और न्यूनता का विचार करने पर जो उत्तम दीखे सो करना चाहिए।"

राजा ने उत्तर दिया—"पक्षिराज, तुम्हारा कहना ठीक है, लेकिन जब तुम अपने कुटुंब की बात कहते हो तब यह भूल जाते हो कि कबूतर के कुटुंब का क्या होगा। तुम भूखे हो तो जो तुम कहो तुम्हें खाने को दूँ, पर इस कबू-तर को तो मैं तुम्हें कभी न दूँगा।"

बाज़—महाराज, मैं दूसरे अन्न को क्या करूँगा? पर-मेश्वर ने मेरे भोजन के लिये यही कबूतर पैदा किया है, इसलिये मुझे यही दो।

राजा—हे पक्षी, मैं तुझे सारे शिविदेश का समृद्धि-शाली राज देता हूँ, या जो तू बतलावे वही चीज़ दूँ; इस शरणागत कबूतर को छोड़ जो तू चाहे माँग ले।

बाज—हे राजा, यह कबूतर तो तुम्हें ऐसा प्यारा जान पड़ता है जैसे तुम्हारा शरीर। इस पर तुम्हें इतना स्नेह!

है तो तुम अपने शरीर में से इसके बराबर मांस काट और तोलकर मुझे दो। इससे मैं संतुष्ट हो जाऊँगा।

राजा ने फौरन् तराजू मँगवाई और कबूतर के बराबर मांस अपने शरीर में से काटकर तराजू के एक पल्ले में चढ़ाय और दूसरे में कबूतर को रक्खा, लेकिन मांस तोल में कम हुआ। राजा ने और मांस काटकर रक्खा तो भी कम हुआ। इसी तरह करते करते अंत में राजा खुद तराजू में बैठ गया और बोला—"यह ले, मेरी देह!" आत्मसमर्पण के ये शब्द सुनते ही बाज़ और कबूतर ने अपने अपने रूप बदल डाले। बाज़ बोला—"हे धर्मज्ञ राजा, मैं इंद्र हूँ और यह कबूतर अग्निदेव है। तेरी परीक्षा करने हम यहाँ आए थे। तेरा शरीर अखंड हो और तेरी उज्ज्वल कीर्ति सब लोकों में प्रकाशमान हो।"

(१) जैसे राजा का यह धर्म है कि सबल से निर्बल की रक्षा करे वैसे ही हरएक मनुष्य का भी यही धर्म है।

(२) इस रहस्यमय कहानी का मर्म यह है कि जब बलवान् निर्बल पर अत्याचार करता है तो वह बहाना निकाल लेता है कि ईश्वर की इच्छा ही ऐसी है, और यों अपने अत्याचार को उचित बतलाता है। अमरीका का हबशी गुलामों का व्यापार, गुलामों पर किए जानेवाले जुल्म, और गुलामी की प्रथा मिटाने के लिये क्लार्कसन, विल्बरफ़ोर्स इत्यादि के नेतृत्व में इँगलैंड की प्रजाद्वारा किए गए भगीरथप्रयत्न और स्वार्थत्याग—इन सबका इतिहास शिक्षक को बालकों को समझाना चाहिए।

(३) शिक्षक को चाहिए कि इस गुण के स्वरूप को बालकों

के निग्रह के जीवन में बालकों को पहचनवावे, जैसे पाठशाला में एक बलिष्ट बालक अगर किसी निर्बल बालक को सताए तो देखने-वालों को क्या करना चाहिए—यह बतलाना चाहिए।

(४) बालकों को ऐसे दृष्टांत बतलाने चाहिएँ जो बड़े होने पर काम आवें—जैसे सास का बहू पर अत्याचार, जाति के पंचों का ग़रीब जातिभाई पर अत्याचार, ऊँची जाति का नीची जाति पर अत्याचार; इत्यादि।

(५) इसमें तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि यदि निर्बल हमारी सहायता की खोज में आवे तो हमें क्या करना चाहिए। अगर हमें कहीं अत्याचार होता दीखे तो हमें बिना बुलाए दौड़कर निर्बल की मदद करनी चाहिए। यह हमारा कर्तव्य है। लेकिन साधारण रूप से यही कहा जाता है कि शरणागत की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इस संसार में निर्बल और बलवान् की छोटी छोटी लड़ाइयाँ और झगड़े अनगिनती होते रहते हैं, उनमें अगर हरएक को हम तलाश करते फिरें तो कभी छोर ही नहीं पा सकते। परंतु बड़े बड़े अत्याचारों को दूर करने के लिये इस बात की राह नहीं देखनी चाहिए कि कोई हमें बुलावे।

(६) *यह कर्तव्य बिना स्वार्थत्याग के हो नहीं सकता।* निर्बल का पक्ष लेकर, मुक़ाबले में दो पक्ष खड़े करना और ज़ोर-शोर से कलह मचाना, इन बातों में यह कर्तव्य पूरा नहीं होता।

११२—कर्तव्यबुद्धि

अमरीका के एक टापू के पास एक लाइटहाउस यानी आलोक भवन है। सन् १९०४ ई० की बात है कि लाइट-

हाउस का रक्षक पास की चट्टान पर यकायक मर गया। उसकी स्त्री कोठरी में व्यालू तैयार किए बैठी उसकी राह देख रही थी। पर जब दीप जलने के समय तक वह न लौटा तो उसे चिंता हुई। बाहर आकर देखा तो चट्टान पर वह मरा पड़ा है। तुरंत वह उसकी तरफ दौड़ी पर उसे ध्यान आया कि रोशनीघर में दीपक जलाने का समय हो चुका है, और अब जो मैं इसके गाड़ने के काम में लगती हूँ तो समुद्र में एकआध जहाज को हानि पहुँचेगी। यह सोचकर उसने अपने पति की लाश कोठरी में ले जाकर रख दी और स्वयं तुरंत रोशनीघर पर चढ़ गई। ऊपर जाकर दीया जलाया पर काँच फिरते रखने का यंत्र उससे ठीक करते नहीं बना। अगर अपने हाथ से ही करे तो यह काम भले हो, इससे उसने ऐसा ही करना निश्चय किया और तमाम रात ऐसा ही करती रही। इस तरह आते-जाते सैकड़ों जहाजों की रक्षा के लिये उस स्त्री ने अपना निजी दुःख दबा रक्खा।

जैसे जान कोक्रेन ने अपना कर्तव्य पालन किया वैसे ही जो काम अपने को सौंपा गया है उसे पूरा करना तो मनुष्य का धर्म ही है, परंतु विशेष रूप से, अपनेआप यह समझना कि किसी विशेष अवसर पर अपना धर्म क्या है, और उसको पूरा करना—इसमें विशेष खूबी है।

११२—लक्ष्मण की कर्तव्यबुद्धि

धर्मवर्ती राजा रामचंद्र के समय में एक बार तपस्वी का रूप धरकर काल राजद्वार पर आया और बोला—"हे लक्ष्मण, राजा रामचन्द्र से जाकर कहो कि मुझे उनसे कुछ बात करनी है।" लक्ष्मण ने जाकर कह दिया। रामचंद्रजी ने लक्ष्मण को उसे तुरंत भीतर भेज देने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार लक्ष्मण उसे राम के पास ले गए। राम ने उसका उचित सम्मान कर उससे कुशल-क्षेम पूछी। काल ने कहा—"महाराज, मुझे आपसे कुछ खास बात करनी है। इसलिये लक्ष्मण को द्वार पर बैठाइए और कह दीजिए कि वे किसी को अंदर न आने दें, और न स्वयं आवें। यदि आपकी इस आज्ञा को कोई टाले तो आप उसे प्राणदंड दें।" रामचंद्रजी ने काल की इच्छानुसार लक्ष्मण को कड़ी आज्ञा दी। लक्ष्मण द्वार पर खड़े हो गए और भीतर रामचंद्रजी काल के साथ बातचीत करने लगे। इतने में दुर्वासा राजमहल के फाटक पर आए और लक्ष्मण से बोले—"लक्ष्मण, मुझे राम से काम है, मुझे उनसे तुरत मिला दो।" लक्ष्मणजी ने जवाब दिया—"महाराज, रामचंद्रजी किसी विशेष काम में लगे हैं इसलिये आप तनिक यहाँ बैठिए, मैं आपको थोड़ी देर में अंदर ले चलूँगा।" दुर्वासा यह सुनते ही क्रोध से आगबबूला हो

गए और आँख और भौंएँ चढ़ाकर बोले—"अरे लक्ष्मण, अभी मुझे राम के पास ले चल, नहीं तो मैं तुझे, तेरे राम को और इस संपूर्ण नगरी को और देश को शाप देकर भस्म कर डालूँगा।" यह सुनकर लक्ष्मण बड़े असमंजस में पड़े। आखिर यह निश्चय किया कि चाहे अकेले मेरे प्राण जायँ पर सबका नाश न होना चाहिए। ऐसा विचार-कर वह वहाँ गए जहाँ रामचंद्र काल के साथ बैठे बातें कर रहे थे, और कहा कि दुर्वासा मिलने आए हैं और रोके नहीं रुकते। लक्ष्मण को दूर से आते देखकर राम को बड़ी चिंता हुई लेकिन शांतिपूर्वक जो कुछ लक्ष्मण ने कहा सुनते रहे, और काल को विदा कर दुर्वासा को अंदर बुलाने की आज्ञा दी। स्वयं भी ऋषि को लेने गए और उनके पैर छूकर सत्कार किया।

दुर्वासा के चले जाने पर रामचंद्रजी को बहुत सोच में डूबा हुआ देखकर लक्ष्मण ने कहा—"महाराज, मैं आपका संकट जानता हूँ और आपसे विनती करता हूँ कि आप मुझे प्राणदंड की आज्ञा देकर अपनी प्रतिज्ञा पालिए।" राम ने वसिष्ठ आदि पुरोहितों को बुलाकर सब हाल सुनाया। वसिष्ठ मुनि भली प्रकार जानते थे कि लक्ष्मण को दुर्वासा ने कैसी मुसीबत में डाल दिया था, साथ ही साथ प्रतिज्ञापालन की महिमा को भी वह खूब समझते थे। उन्होंने राम को यह सलाह दी—"हे महाराज, जो

प्रतिज्ञा भग होगी तो धर्म भग होगा, और जो धर्म भग होगा तो जानदार और बेजान प्राणियों समेत विश्व का नाश होगा, इसलिये आप प्रतिज्ञा का पालन करें, और यह भी ध्यान में रक्खें कि लक्ष्मण को आपकी आज्ञा क्योंकर तोड़नी पड़ी, और लक्ष्मण का वध न करके केवल उसका त्याग कर दें, क्योंकि जिसने घड़ीभर को भी आपका साथ नहीं छोड़ा, वन में जो सदा आपकी सेवा में उपस्थित रहा, ऐसे लक्ष्मण के लिये त्याग और वध बराबर हैं।"

राम ने लक्ष्मण से कहा—"हे लक्ष्मण, धर्म निर्बल न हो जाय इसलिये मैं तेरा त्याग करता हूँ। तू जानता है कि सत्पुरुष के लिये त्याग और वध एकसे हैं।" ऐसा कहकर राम ने लक्ष्मण को त्याग दिया।

(१) अपने सिर पर सकट लेने से ही बहुतों का बचाव होता हो तो ऐसा करना चाहिए।

(२) शिक्षा (सज़ा) माँगकर लेनी चाहिए।

(३) वचन का पालन करना चाहिए, प्रतिज्ञा पूरी करनी चाहिए।

(४) मृत्युसरीखा भारी दड देने से पहले यह विचारना चाहिए कि दूसरे दड से असली दड का मतलब निकल आता है या नहीं।

(५) भले आदमी के लिये त्याग (तिरस्कार) और वध (मृत्यु) दोनों सज़ाएँ एकसी हैं।

११४—सीतात्याग

श्रीरामचंद्रजी की पत्नी सीता को रावण हर ले गया, और उनसे शादी करने के लिये उन्हें डराया, उनकी खुशामद की, सब कुछ किया, परंतु उस दुष्ट को सफलता न हुई। उसने सीताजी को अशोकवन में रक्खा था जहाँ वे बराबर राम का ध्यान किया करती थीं, और जब कभी रावण सामने आकर खड़ा होता था तो वे उसकी तरफ देखती तक न थीं। अंत में राम के हाथ से रावण युद्ध में मारा गया, और राम और सीता का मिलाप हुआ। राम और सीता एक दूसरे को बहुत प्यार करते थे। उनका एक दूसरे पर जो पूर्ण प्रेम था उसे दोनों खूब जानते थे। लेकिन लोगों को इस बात का विश्वास कैसे हो कि सीताजी पवित्र रही हैं, इसलिये राम ने सीताजी से कहा कि तुम पवित्र हो तो इस अग्नि में घुसो। सीताजी अग्नि में पैठीं किंतु उन्हें तनिक भी आँच न लगी। इनसे सबको विश्वास हो गया कि सीताजी पवित्र हैं और रामजैसे राजा की पत्नी होने योग्य है। लंका में ऐसा हो जाने के बाद, सीता को लेकर राम अयोध्या आए और वहाँ सुख से राज करने लगे। राजा को ऐसी रीति से राज करना चाहिए जिससे कुल प्रजा को संतोष मिले। ऐसी ही उत्तम रीति के अनुसार सूर्यवंश के राजा राज किया करते थे, और अपने कुल की

यह टेक राम को भी बड़ी प्यारी थी। प्रजा सुखी है वा दुखी, उसे मेरे राज्य में क्या क्या भलाई बुराई दीखती है, यह जानने के लिये राम सदा अपने जासूस भेजते और उनसे सब हाल मालूम करके जो कमी होती उसे सुधारते थे। एक समय एक दूत भेद लेकर आया। उससे राम ने पूछा—"भाई, लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं?" दूत ने जो जो बातें सुनी थीं सब कहनी शुरू कीं। परंतु राम को अपनी प्रशंसा सुनना पसंद न था, इसलिये उसे रोककर कहा कि मुझे अपने दोष जानने हैं, गुण नहीं। दूत ने बहुत संकोच के साथ और दुःखपूर्ण हृदय से उत्तर दिया—"महाराज, एक दुष्ट धोबी और धोबिन लड़ रहे थे। धोबी ने धोबिन से कहा कि यह मत समझना कि सब राम के समान स्त्रीभक्त हैं।" ये वज्र के समान शब्द सुनकर राम सन्न रह गए और थोड़ी देर के लिये उन्हें मूर्च्छा आ गई, पर तुरत धीरज धरकर उन्होंने सोचा कि सीता की पवित्रता यह बेचारा धोबी क्या जाने? लंका में सीता की जो अग्नि-परीक्षा की गई वह वहाँ के लोगों को मालूम है, लेकिन अयोध्या के लोगों को उसका कैसे विश्वास हो? धोबी पर क्रोध करने का कोई कारण नहीं। जैसा राजा करता है, वैसा ही प्रजा करती है, इसलिये अपने उत्तम कुल पर धब्बा न लगाकर मुझे प्रजा के सामने अच्छा उदाहरण ... ना चाहिए। इस बेचारे धोबी ने तो खैर अपने

११४—सीतात्याग

श्रीरामचंद्रजी की पत्नी सीता को रावण हर ले गया, और उनसे शादी करने के लिये उन्हें डराया, उनकी खुशामद की, सब कुछ किया, परंतु उस दुष्ट को सफलता न हुई। उसने सीताजी को अशोकवन में रक्खा था जहाँ वे बराबर राम का ध्यान किया करती थीं, और जब कभी रावण सामने आकर खड़ा होता था तो वे उसकी तरफ देखती तक न थीं। अंत में राम के हाथ से रावण युद्ध में मारा गया, और राम और सीता का मिलाप हुआ। राम और सीता एक दूसरे को बहुत प्यार करते थे। उनका एक दूसरे पर जो पूर्ण प्रेम था उसे दोनों खूब जानते थे। लेकिन लोगों को इस बात का विश्वास कैसे हो कि सीताजी पवित्र रही हैं, इसलिये राम ने सीताजी से कहा कि तुम पवित्र हो तो इस अग्नि में घुसो। सीताजी अग्नि में पैठीं किंतु उन्हें तनिक भी आँच न लगी। इससे सबको विश्वास हो गया कि सीताजी पवित्र हैं और रामजैसे राजा की पत्नी होने योग्य हैं। लंका में ऐसा हो जाने के बाद, सीता को लेकर राम अयोध्या आए और वहाँ सुख से राज करने लगे। राजा को ऐसी रीति से राज करना चाहिए जिससे कुल प्रजा को संतोष मिले। ऐसी ही उत्तम रीति के अनुसार सूर्यवंश के राजा राज किया करते थे, और अपने कुल की

यह टेक राम को भी बड़ी प्यारी थी। प्रजा सुखी है या दुखी, उसे मेरे राज्य में क्या क्या भलाई-बुराई दीखती है, यह जानने के लिये राम सदा अपने जासूस भेजते और उनसे सब हाल मालूम करके जो कमी होती उसे सुधारते थे। एक समय एक दूत भेद लेकर आया। उससे राम ने पूछा—"भाई, लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं?" दूत ने जो जो बातें सुनी थीं सब कहनी शुरू कीं। परंतु राम को अपनी प्रशंसा सुनना पसंद न था, इसलिये उसे रोककर कहा कि मुझे अपने दोष जानने हैं, गुण नहीं। दूत ने बहुत संकोच के साथ और दुःखपूर्ण हृदय से उत्तर दिया—"महाराज, एक दुष्ट धोबी और धोबिन लड़ रहे थे। धोबी ने धोबिन से कहा कि यह मत समझना कि सब राम के समान स्त्रीभक्त हैं।" ये वज्र के समान शब्द सुनकर राम सन्न रह गए और थोड़ी देर के लिये उन्हें मूर्च्छा आ गई, पर तुरत धीरज धरकर उन्होंने सोचा कि सीता की पवित्रता यह बेचारा धोबी क्या जाने? लंका में सीता की जो अग्नि-परीक्षा की गई वह वहाँ के लोगों को मालूम है, लेकिन अयोध्या के लोगों को उसका कैसे विश्वास हो? धोबी पर क्रोध करने का कोई कारण नहीं। जैसा राजा करता है, वैसा ही प्रजा करती है, इसलिये अपने उत्तम कुल पर धब्बा न लगाकर मुझे प्रजा के सामने अच्छा उदाहरण पेश करना चाहिए। इस बेचारे धोबी ने तो खैर अपने दिल की बात

कह डाली, लेकिन, न जाने ऐसे कितने आदमी होंगे जिन पर मेरे उदाहरण का बुरा असर पड़ा होगा। ऐसा विचार करके राम ने लक्ष्मण को आज्ञा दी कि सीताजी को रथ में बैठाकर गंगाकिनारे ले जाओ और पास के वन में छोड़ आओ। लक्ष्मणजी ने बड़े शोक के साथ बड़े भाई की आज्ञा का पालन किया।

"साँच को आँच नहीं"—सीताजी की रक्षा वाल्मीकि मुनि ने की। राम ने अश्वमेधयज्ञ किया, उसमें सोने की सीता से काम चलाया परंतु दूसरी स्त्री से शादी नहीं की। यहाँ तक उन्हें सीताजी की याद आती रही कि उनका शरीर आधा रह गया, लेकिन उन्होंने सब जगत् को एक-पत्नीव्रत और प्रेम का माहात्म्य बतला दिया। राजा का न्याय तो प्रजा ही करती है, अपना न्याय अपने हाथ में राजा से भी नहीं लिया जा सकता—यह नीति उन्होंने अपने दृष्टांत से जगत् को सिखलाई।

(१) कुल के ऊँचे गुण बनाए रखने चाहिएँ, उसके निर्मल यश पर दाग न लगाना चाहिए। कुल का मान बढ़ाना चाहिए, घटाना नहीं।

(२) बड़े सद्गुणवाले कुलों में एक दो सद्गुण विशेष रूप से देखे जाते हैं। कोई शौर्य के लिये, कोई दया के लिये, कोई दृढ़ता के लिये, कोई विद्या के लिये, कोई पराक्रम के लिये, कोई सत्यनिष्ठा और शुद्धता के लिये, इस प्रकार विविध गुणों के लिये विविध कुटुंब प्रसिद्ध होते हैं। वंशपरंपरा से कुटुंब में जो सद्गुण चला

आया है, उसे स्थिर रखना यही कुलधर्म है, और ऐसा देदीप्य-मान (चमकता हुआ) कुलधर्म जनसमाज को सन्मार्ग पर ले जाने में आकाशी दीपक का काम देता है।

(३) प्राण देना पड़े तो भी क्या परवाह? प्यारी से प्यारी चीज़ देनी पड़े तो भी क्या परवाह? लेकिन प्रजा का मन रखना राजा का परम धर्म है।

(४) "सीता कुछ मुझसे अलग नहीं कि मुझे यह सोचना पड़े कि मेरा उसकी ओर क्या कर्तव्य है। दोनों मिलकर एक ही शरीर है और दोनों को मिलकर कुल की लाज रखनी है' —यह समझकर राम ने अपना शरीर चीर डाला। राम और सीता का एक ही शरीर था या नहीं यह तुम आसानी से सोच सकते हो।

(५) अपना न्याय स्वयं अपने से नहीं होता। यह न्याय तो दूसरा ही कर सकता है। हम यह भले ही जानते हों कि दूसरा मनुष्य हमारे विषय में भूल करता है, तो भी अपना न्याय अपने हाथ में लेने से यह कहीं अच्छा है कि हम दूसरे की भूल का परिणाम भोगें।

(६) सीता का वन में क्या होगा इस बात का भय राम को नहीं हुआ। क्यों होता? वे क्या यह नहीं जानते थे कि जिसे मनुष्य छोड़ देता है उसकी रक्षा ईश्वर करता है? अनाथ का नाथ 'राम' है। सीताजी को वन में किस बात की कमी रही?

११५—कर्तव्यधर्म की उग्रता

[१]

पासेनियस नाम के एक ग्रीक के विषय में ऐसा कहा जाता है कि जब ग्रीस और ईरान के बीच में लड़ाई हो

रही थी उस समय उस बहादुर योद्धा ने ईरानियों को, गुप्त सहायता देने के लिये, पत्र लिखे थे। यह बात जब ग्रीक लोगों को मालूम हुई तब वे उसे मारने को तैयार हो गए। वह भागकर एक-मंदिर में घुस गया। उस समय ऐसा नियम था कि मंदिर में कोई मनुष्य न तो पकड़ा जा सकता था और न मारा जा सकता था। इससे लोग उसका कुछ और तो कर न सके पर इतना किया कि देवालय का छप्पर तोड़ डाला जिससे मंदिर में छिपे हुए पासेनियस को बरसात और धूप सहनी पड़े। लेकिन ऐसा करने पर भी जब वह देशद्रोही नीच मनुष्य बाहर न निकला तब लोगों ने सोचा कि वह भूखा मर जाय तो अच्छा, और इसलिये उन्होंने मंदिर का द्वार चुन दिया। उसके बंद करने में पहला पत्थर एक बूढ़ी स्त्री ने रक्खा। वह बूढ़ी पासेनियस की माता थी।

[२]

टाईमोफेनिस और टाईमोलियन नाम के दो ग्रीक भाई थे। एक बार पास के राज्य के साथ ग्रीस की लड़ाई हुई। उसमें लड़ते लड़ते टाईमोफेनिस का घोड़ा घायल हुआ और वह खुद भी तीर खाकर घोड़े से जमीन पर गिर गया। उसके साथियों में से बहुतसे घायल हुए थे और कितने ही भाग गए थे। इतने ही में उसके छोटे भाई टाईमोलियन ने एकदम आकर अपनी ढाल रखकर उसकी रक्षा की और

ढाल की ओट में धीरे धीरे उसे लड़ाई के मैदान के एक सुरक्षित कोने में ले गया। उसने ठीक अवसर पर सहायता करके बड़े भाई के प्राणों की रक्षा की इसलिये सबने उसकी प्रशंसा की। कुछ दिनों बाद टाईमोफेनिस को, लोगों की इच्छा के विरुद्ध कोरिंथ के राजा बनने की इच्छा हुई और वह पद उसने बलपूर्वक ले लिया। अभी तक कोरिंथ में प्रजासत्तात्मक राज था और इससे वहाँ की प्रजा को टाईमोफेनिस का यह काम पसन्द न आया।

सब इकट्ठे होकर टाईमोफेनिस को समझाने गए, उनमें टाईमोलियन भी था। टाईमोलियन ने बहुत कुछ कहा पर टाईमोफेनिस टस से मस न हुआ। अंत में उसने हाथ जोड़कर कहा—"भाई, क्या तुम मेरी प्रार्थना नहीं मानोगे? अपनी इच्छा के विरुद्ध भी तुमसे कहना पड़ता है कि मैंने तुम्हारी जान बचाई है।" बड़े भाई ने जवाब दिया—"यह सब सच है, लेकिन अपने बाहुबल से मैंने यह पद प्राप्त किया है सो मैं कैसे छोड़ दूँ।" इन अपमानकारक शब्दों से लोग भड़क गए और उनमें से एक आदमी टाईमोफेनिस पर टूट पड़ा और उसे मार डाला। टाईमोलियन, जिसने एक समय ढाल रखकर उसकी रक्षा की थी, आँसूभरी आँखों से खड़ा खड़ा देखता रहा, क्योंकि वह जानता था कि टाईमोफेनिस अन्याय से राजा बन बैठा है और प्रजा के हाथों उसका मारा जाना उचित ही है।

[२]

पशियाकोचक में स्मर्ना नाम का एक शहर है। उसमें एक मोदी रहता था। सब शहर उसके यहाँ से माल ख़रीदता था पर उस दुष्ट का लोभ कम न होता था। उसने झूठे काँटे रख छोड़े थे और उनके द्वारा ग्राहकों को सदा ठगता रहता था। एक बार उसने सुना कि क़ाज़ी साहब दूकानदारों के काँटे-तराज़ू परखने के लिये एक अफसर भेजनेवाले हैं। यह सुनकर पहले तो वह कुछ घबराया लेकिन जब उसे मालूम हुआ कि उसका लड़का, जो क़ाज़ी साहब की मातहती में काम करता था, इस काम पर नियुक्त हुआ है तो उसके जी में जी आया और उसने अपनी सदा की आदत जारी रक्खी। उसके मित्र उसकी आदत जानते थे, इसलिये उन्होंने उसे चेतावनी दे दी, पर उसने यह कहकर कि "मेरा लड़का ही तो देखने आवेगा, क्या चिंता है?" उनकी बात पर कुछ ध्यान न दिया। आख़िर इंसपेक्टर साहब आए और उससे काँटा पेश करने को कहा। मोदी बोला—"बेटे. . " परंतु इंसपेक्टर ने इसका कुछ विचार न कर अपने मातहतों से उसकी ख़ानातलाशी कराना शुरू किया। जब तराज़ू जँचवाई तो उसे खोटा पाया। देश के नियम के अनुसार तुरंत मोदी पर जुर्माना किया गया और उसके पैर के तले में पचास बेंत लगाए जाने की आज्ञा दी गई। पिता ने जुर्माना दे दिया

और बेंत लगना शुरू हुआ। पुत्र यह सब कारखाई रोते रोते देखता रहा। बेंतों के पूरे होते ही पुत्र घोड़े पर से उतर पड़ा और पिता के चरणों पर गिरकर गद्गद कंठ से बोला—"पिताजी, मैंने अपना कर्तव्य किया है, पर बड़े दु:खित हृदय से। मेरी आपसे इतनी प्रार्थना है कि अब से ऐसे काँटे-तराजू न रखिएगा, क्योंकि ऐसा करने से आपको और मुझे दोनों को दु:ख उठाना पड़ता है।"

इंसपेक्टर पिता से प्रेम करता था, पर साथ ही साथ यह भी जानता था कि न्याय क्या चीज़ है।

(१) कितने ही कवियों ने न्याय की मूर्ति की ऐसी कल्पना की है कि उसकी आँखों में पट्टी बँधी है, एक हाथ में तराजू और दूसरे में तलवार है। इसका मतलब यह है—

(क) न्याय करते समय यह न देखना चाहिए कि दूसरा मनुष्य कौन है, अपना है या पराया, शत्रु है या मित्र, राजा है या रंक।

(ख) तराजू में दोनों तरफ़ के गुण-दोष तोलकर न्याय करना चाहिए।

(ग) न्याय करने के बाद जो उचित जँचे वह दंड देना चाहिए, कलेजे पर पत्थर रखकर काम करना चाहिए।

(२) यह ख़ास तौर से देख लेना चाहिए कि न्याय के नाम पर हमें कहीं हमारी द्वेषवृत्ति, या अविवेक, या लोभ, या विचार हीनता तो प्रेरित नहीं कर रही है। जिसने एक अवसर पर मृत्यु के सामने भाई के ऊपर ढाल रक्खी उसी को, दूसरे अवसर पर, उस पर वार होते देख अलग रहने का अधिकार है। जिसकी आँख

से दंड देते समय खूब आँसू बहते हैं और जो कठिन कर्तव्य करने के बाद ही पिता के चरणों पर पड़ जाता है, उसी को पिता को दंड देने का भी अधिकार है।

(३) सीतात्यागवाली कथा में तुमने देखा होगा कि राम ने एक बार पत्नी के वियोग से शरीर को गला डाला, और यह जानते हुए भी कि दूसरी बार पहले से भी अधिक गलेगा उन्होंने सीता का त्याग कर दिया। इस तरह, जो दूसरे को दंड देने में ही अपने ऊपर उससे कहीं अधिक कष्ट लेता हो ऐसा—एकपत्नीव्रत का उपासक—ही अगर कर्तव्यबुद्धि से प्रेरित होकर अपनी पत्नी का त्याग करे तो उस पर हमें अँगुली न उठानी चाहिए।

(४) माता का स्त्रीत्व और मातृत्व को ताक़ पर रखकर अपने बेटे को उसके नीचे देश द्रोह के लिये दंड देने में हिस्सा लेना उचित समझा जाना चाहिए।

११६—प्राणार्पण

सन् १७२० ई० में मार्सेल्सशहर में बड़े ज़ोर का प्लेग फैला। इस रोग के कारणों की खोज निकालने के लिये बड़े बड़े डाक्टरों की सभा हुई। उसमें एक डाक्टर ने कहा कि जब तक हममें से कोई, प्लेग से मरे हुए मनुष्य की लाश को चीरकर, उसके सब अवयवों की जाँच न करेगा, तब तक यह मालूम न हो सकेगा कि यह रोग मनुष्य पर किस तरह असर करता है। पर यह काम करे कौन ? जो करने जाय, उसे खुद ही प्लेग हो जाय। तुरंत हेन्रि गायन नाम का एक जवान डाक्टर आगे आया। उसके स्त्री पुत्र

कोई न थे, इसलिये उसने वसीयतनामा लिखा और उसमें अपनी कुल जायदाद मार्सेल्स के अस्पताल के लिये लिख दी और रोमन कैथोलिक संप्रदाय के अनुसार अंतकाल में जो ईश्वर का प्रसाद लेना चाहिए उसे लेकर प्लेग की एक लाश चीरनी शुरू की। वह उसे चीरता गया और जो बातें देखीं उनको लिखता गया, और कागज़ों को सिरके में इसलिये डालता गया कि जब कभी वे किसी दूसरे के हाथ में आयँ तो उसे प्लेग न होने पावे। इतने में उसे बुखार आ गया और बारह घंटे में वह मर गया। उसके साथी डाक्टरों ने उसके लिखे हुए कागज़ पढ़े और प्लेग के कारणों के बारे में बहुत कुछ नई बातें जानीं। इस प्रकार, अपने पेशे के यश के लिये और मनुष्यजाति के सुख के लिये उस डाक्टर ने अपने प्राण दे दिए।

रण-क्षेत्र में स्वदेश के लिये लड़कर जो लोग अपने प्राणों को होमते हैं वे धन्य हैं, परन्तु उनसे भी बढ़कर वे पुरुष हैं जो ऐसी शांतिपूर्ण वीरता दिखलाते हैं।

११७—रंतिदेव

पहले सोमवंश में रंतिदेव नाम का एक बड़ा परोपकारी और दयालु राजा हो गया है। जब उसका सब धन परोपकार में लग गया तब वह स्वयं भूखा रहकर दीन याचकों का पालन करने लगा। वह और उसका कुटुंब तो दु:ख

सहता, पर कोई गरीब अतिथि उसके यहाँ से निराश न लौटने पाता था। उस राजा ने एक बार अड़तालीस दिन तक अन्न-पानी का कष्ट सहा और जब उंचासवें दिन सुबह भोजन करने बैठा तो तुरंत एक अतिथि ब्राह्मण आ पहुँचा। सबमें ईश्वर का देखनेवाले उस रंतिदेव ने श्रद्धापूर्वक अतिथि का आदर-सत्कार कर उसे भोजन कराया। भोजन करके ब्राह्मण चला गया। रंतिदेव बचा हुआ अन्न खाने की तैयारी कर ही रहा था कि इतने में एक दूसरा शूद्र अतिथि आ पहुँचा। रंतिदेव ने ईश्वर का नाम लेकर अपने भोजन में से शूद्र को भोजन कराया। शूद्र भोजन करके गया ही था कि कुत्तों से घिरा हुआ एक तीसरा अतिथि आकर भोजन के लिये खड़ा हो गया और बोला—"हे राजा, मैं और ये कुत्ते भूखे हैं, इसलिये हमें खाने को दो।" यह सुन रंतिदेव राजा ने बड़े आदर के साथ बाक़ी बचा हुआ अन्न उसे दे दिया, और कुत्तों और उनके स्वामी को प्रणाम किया। इस प्रकार अतिथियों को खिलाने में सारा भोजन खर्च हो गया, केवल पानी बच रहा, और वह भी एक आदमी के पीने लायक़। रंतिदेव वह जल पिया ही चाहता था कि इतने में वहाँ फिर एक चाण्डाल आ पहुँचा। वह बोला—"हे राजा, मैं प्यासा हूँ, मुझे पानी पिलाओ।" राजा को चाण्डाल की दयाजनक दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ और उसने भगवान से प्रार्थना की—"हे प्रभो, मैं

तुझसे बड़े से बड़े ऐश्वर्य की या मोक्ष की चाहना नहीं करता, परंतु यह इच्छा रखता हूँ कि सब प्राणियों की अंतरात्मा में प्रवेश करके मैं उनके दुःख भोग सकूँ, जिससे मैं तो दुखी हो जाऊँ पर और सब प्राणी दुःख रहित हो जायँ।" ऐसा कहकर उन्न राजा ने, जो स्वभाव से ही दयालु और धीर था, और जो खुद प्यास के मारे मरा जाता था, उस चाण्डाल को पानी दे दिया। पानी देते ही वे तीनों अतिथि, जो असल में देवता थे, अपने असली रूप धारण कर राजा के सामने खड़े हुए और बोले—"वरदान माँग।" परंतु भगवान् में शुद्ध भक्ति रखनेवाले उस परोपकारी राजा ने केवल उन्हें नमस्कार किया, कुछ माँगा नहीं।

(१) स्वयं कष्ट सहकर भी भूखे प्यासे को अन्न-पानी देना हमारा कर्तव्य है।

(२) कीर्ति के लिये बहुतसे आदमी दान—परोपकार—करते हैं। कहते हैं कि "कर्ण दानेश्वरी" हमेशा सवा मन सोना देता था, परंतु रंतिदेव के सामने वह कुछ नहीं है, क्योंकि रंतिदेव का दान कीर्ति के लिये नहीं था, ईश्वर के लिये था।

(३) "सब प्राणियों के दुःख मैं भोगूँ" ऐसी प्रार्थना विरले ही करते होंगे। पर रंतिदेव की प्रार्थना यही थी और वह सिर्फ कहने के लिये ही नहीं, वह ऐसा ही करता भी था।

(४) यह समझना चाहिए कि ग़रीब याचक याचक नहीं, वह स्वयं परमेश्वर है। जो कुछ याचक को देना हो वह तिरस्कार या फटकार के साथ न देना चाहिए, आदरभाव से और ईश्वर से विना बदला माँगे देना चाहिए।

(५) पानी के प्याले की ऐसी ही कथा जो सर फ़िलिप सिडनी के बारे में कही जाती है बालकों को बतलानी चाहिए।

(६) हज़रत अली की उस कथा की भी याद दिलानी चाहिए जिसमें उन्होंने अपने घातक शत्रु को पानी दिलवाया था।

११८—सच्ची साधुता

बलख का बादशाह सुलतान इब्राहीम, जो इब्न आदम के नाम से मशहूर है, अपने बुढ़ापे में फ़क़ीरों की तरह रहता था। उसके आसपास सैकड़ों शिष्य इकट्ठे होते थे, और उन सबको उसका एक मुख्य उपदेश यह था कि जो कुछ खाओ, मेहनत से कमाकर खाओ। वह खुद हमेशा जंगल से लकड़ी काट लाता और उसे बेचकर रोटी और खजूर लेता और अपनी भूख मिटाने लायक़ खाकर, बाक़ी सब शिष्यों में बाँट देता। दूसरों के लिये वह खुद कितना दुःख उठाता था यह एक दो बातों से साबित होगा। एक समय सर्दी की ऋतु में कितने ही दरवेशों के साथ वह एक मसजिद में रहता था। मसजिद पुरानी थी और उसके दरवाजे में दरार हो गई थी। उसमें से ठंडी हवा के झोंके दरवेशों पर खूब आते थे। हवा रोकने के लिये वह सारी रात दरवाजे से लगकर खड़ा रहा और सर्दी सहा किया।

एक दूसरे समय की बात है कि वह और एक दरवेश

साथ साथ सफर कर रहे थे। रास्ते में दरवेश बीमार पड़ गया। उसकी दवादारू करने में उसने सब कुछ खर्च कर दिया। जब उसके लिये और रुपए की जरूरत पड़ी तो उसने अपना घोड़ा बेच दिया। दरवेश को कुछ आराम हुआ और दोनों आगे बढ़े। वहाँ रास्ते में दरवेश को थका देखकर उसने उसे अपने कंधे पर बैठाया और इस तरह तीन मंज़िल ले गया।

एक बार उसे एक मनुष्य रास्ते में शराब पिए हुए पड़ा दीखा जिसका मुँह कीचड़ में सना हुआ था, और उसमें से शराब की बदबू आ रही थी। यह देखकर उसे दया आई। "ईश्वर के नाम लेने के योग्य मुँह में से शराब की बदबू आना ठीक नहीं"—ऐसा कहते हुए उसने उसका मुँह खुद अपने हाथों से धोया और पानी से कुल्ले कराए। जब उस मनुष्य को होश आया तो वह बहुत लज्जित हुआ और उस दिन से शराब पीना छोड़ दिया।

इस फ़क़ीर सुलतान से एक बार किसी ने पूछा—"साईं साहब, आपको आज तक बड़े से बड़ा धर्मात्मा कौन मिला?" सुलतान ने कहा—"एक नाई। उस हज्जाम से मैंने कहा कि भाई खुदा के वास्ते मेरी हजामत बना दे। उसने इतने प्रेम से मेरी हजामत बनाई जितने प्रेम से कि वह बादशाह और अमीर की भी न बनाता होगा। मैंने कहा कि अभी तो मेरे पास कुछ है नहीं लेकिन जो कुछ मुझे सबसे

पहले मिलेगा वह तुझे दे दूँगा। इतने में मेरे किसी शिष्य ने मेरे पास सोने की मोहरों की थैली भेजी। वह मैं उस नाई को देने लगा तो उसने कहा—"साईं, तुमने तो यह न कहा था कि खुदा के वास्ते हजामत बना ?" लेकिन मैंने कहा—"भाई, देख तो सही, यह तो हज़ार मोहरों की थैली है।" नाई ने हँसकर जवाब दिया—'साईं, असली मोहरें इस थैली में नहीं हैं, वे खुदा के वास्ते किए गए काम में ही हैं'।"

(१) जो कुछ खाना हो वह मेहनत और ईमानदारी से कमाकर खाना चाहिए।

(२) ऐसी रीति से जो धन जमा किया जाय वही हमारा सच्चा धन है, और वह चाहे जितना थोड़ा हो पर उस थोड़े में से जो कुछ ग़रीब को दिया जाय वही सच्चा दान है।

(३) दुखी के साथ दुखी होना अच्छा है, परंतु स्वय दु ख सह-कर दूसरे का दु ख कम करना बहुत अच्छा है।

(४) स्वय पाप न करना अच्छा है, परंतु पापी का तिरस्कार न करके उस पर दया करना और उसका पाप के मार्ग से उद्धार करना इससे भी अच्छा है।

(५) खुदा की ख़ातिर किए गए काम की क़ीमत सोने चाँदी में नहीं दी जा सकती। खुदा की ख़ातिर काम करना हज़ारों मोहरों के दान से ज़्यादा है।

११६—दधीचि ऋषि का परोपकार

देवताओं और राक्षसों के युद्ध में ईश्वर सदा देवताओं को ही जिताते हैं और राक्षसों का नाश कराते हैं, और इस तरह संसार का पालन होता है। तो भी देवताओं को हैरान करने के लिये राक्षसों में बल कुछ कम नहीं होता। यह बल कैसा विकराल होता है, इसके विषय में एक जगह कहा है कि राक्षसों का राजा वृत्रासुर, पैदा होने के बाद, रोज़ चारों ओर से इतना बढ़ता था जितनी दूर एक बाण जाता है। उसके शरीर का रंग जले हुए पर्वत के समान काला था। उसका तेज संध्या के अनेक बादलों के समान लाल पीला था, मूँछें और चोटी के बाल दहकते हुए ताँबे के समान थे और आँखें दोपहर के सूर्य के समान तेज़ थीं। ऐसा मालूम होता था मानो उसने अत्यंत चमकीले तीन फलवाले त्रिशूल से आकाश को वेध रक्खा हो। वह नाचता था, गरजता था, पैरों से पृथ्वी को कँपाता था। जब वह गुफा के समान भयंकर और विकराल दाँतोंवाले मुख से बार बार जँभाई लेता तो ऐसा जान पड़ता था मानो मुख से आकाश को निगलता हो, जीभ से नक्षत्रों को चाटता हो, और त्रिभुवन को पिए जाता हो। ऐसे असुर को देखकर सब लोग भयभीत होकर दसों दिशाओं को भागने लगे। देवों के राजा इंद्र को जब उसके

मारने का कोई उपाय न सूझा तो वह सब देवताओं को साथ लेकर विष्णु के पास गया और उनकी प्रार्थना की। विष्णु ने प्रसन्न होकर कहा—"हे देवताओ, तुम दधीचि ऋषि के पास जाओ, उनकी हड्डियों का वज्र बनाओ और उससे वृत्रासुर को मारो।" देवताओं ने पूछा—"महाराज, वह हमें किस तरह अपनी हड्डियाँ देंगे।" विष्णु ने कहा—"अपने प्राण देकर।" देवता बोले—"लेकिन, महाराज, प्राण देना किसे अच्छा लगता है?" विष्णु ने उत्तर दिया—"परोपकारी पुरुप अपने प्राण की कुछ परवा नहीं करता, इसलिये तुम दधीचि ऋषि के पास जाओ और उनकी हड्डियाँ माँगो।" इस पर इंद्र आदि देवता दधीचि ऋषि के पास गए और नम्रतापूर्वक प्रार्थना करके बोले—"महाराज, राक्षसों का राजा वृत्रासुर बहुत प्रबल हो गया है और हमें दुःख देता है। हम लोग विष्णु के पास गए थे और उसके मारने का उपाय पूछा था। विष्णु ने आपकी हड्डियों से वज्र बनाकर उससे लड़ने की सलाह दी है, इसलिये, महाराज, हम आपकी हड्डियाँ माँगने आए हैं। आप उन्हें कृपा कर हमको दीजिए और हमें इस संकट से छुड़ाइए।" देवताओं को सिवा स्वार्थ के अब और कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता था। स्वार्थी लोग दूसरों की पीड़ा नहीं जानते, नहीं तो ऐसी चीज़ ही न माँगें जिसमे दूसरे को कष्ट हो। परंतु सच्चा दानी,

अगर दूसरे के कष्ट को समझनेवाला हो, तो वह माँगी गई चीज़ बिना दिए रह भी नहीं सकता। दधीचि ऋषि ने कुछ भी आनाकानी किए बिना हँसते हुए कहा—"देवताओ, ये हड्डियाँ कौए और कुत्तों के काम आवें उससे तो यह कहीं अच्छा है कि आप लोगों के काम आवें। इसलिये मैं खुशी से अपने प्राण छोड़ता हूँ, दूसरे प्राणियों के सुख से सुखी होना यही सनातनधर्म का रहस्य है।" इतना कहकर दधीचि ऋषि ने परमात्मा में अपना मन लगा दिया और क्षणभंगुर देह को छोड़ दिया। इन्द्र ने उनकी हड्डियों का वज्र बनाया और उससे वृत्रासुर को मारा।

(१) यह न समझना चाहिए कि देवता और राक्षस पहले एक बार लड़ चुके और अब उनमें लड़ाई न होगी। उनका युद्ध हमारे अंदर बार बार—बल्कि रोज़ ही—हुआ करता है। उसमें राक्षसों का बल अधिक दीखता है, पर अंत में ईश्वर की कृपा से देवताओं की ही जीत होती है। राक्षस हमारी दुर्वृत्तियाँ और देवता हमारी सद्वृत्तियाँ हैं। राक्षसों का राजा वृत्रासुर हमारे आत्मा के पवित्र तेज को ढकनेवाला पाप है, और देवताओं का राजा इन्द्र सद्वृत्तियों से घिरा हुआ हमारा जीव है, और विष्णु परमात्मा है।

(२) ईश्वर की सहायता बिना, पाप के मारने के लिये सद्वृत्तियोंवाला जीव समर्थ नहीं है, और इसलिये उसे ईश्वर की प्रार्थना करनी पड़ती है।

(३) सत्य, न्याय आदि की जय के लिये किसी को कष्ट सहना या प्राण देना न पड़े तो अच्छा, पर ऐसा करने की आवश्यकता पड़े तो परोपकारी पुरुष पीछे नहीं हटता।

(४) परोपकारी पुरुष की ही हड्डियों में इतना बल है जो पाप को मार सके। शुभ वृत्तियाँ (सद्वृत्तियाँ) इतनी कार्यसाधक नहीं होतीं, उनमें, साधनरूप में, परोपकार के वज्र के मिलने की आवश्यकता रहती है। सत्य, न्याय, दया, दान इत्यादि वृत्तियाँ अच्छी हैं परंतु उनमें जब परोपकार के काम का बल मिलता है तभी वे पाप का नाश कर सकती हैं।

(५) परोपकार के लिये अतुल दृढ़ता और बल की ज़रूरत है। प्राण देने का मौक़ा आ जाय तो भी क्या? सच तो है, कौए और कुत्तों के मुख में हमारी हड्डियाँ जायँ, इससे देवताओं के ही हाथों में जायँ तो क्या बुराई है?

(६) देवता जो माँगने आवें उसे देने में न हिचकना चाहिए, अगर तुम्हें कहीं सत्य की हत्या होती दीखे, न्याय उलटता हुआ दिखाई दे तो स्वार्थ को ताक पर उठा रक्खो; और कष्ट उठाकर, प्राण देकर सत्य, न्याय आदि की रक्षा करो। इस क्रम में अगर तुम्हारी देह भी जाती रहे तो उसकी हड्डियाँ भी वज्र बनकर पाप का नाश करेंगी।

---

१. "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः"

२. अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा

न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥"

अवतरण

बालको, हमने फर्श से लेकर छत तक नीति की इमारत देखी—एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर कैसे चढ़ना, हर मंजिल में क्या क्या देखना, और किस तरह रहना चाहिए, इनके बारे में हमें पूरा पूरा ज्ञान मिला है। इस मकान के फर्श पर, या छत पर, या एकआध मंजिल में ही हमें नहीं बैठना है। यह कुल मकान हमारा है और हमें इसमें रहना है। अगर हम ठीक तौर से रहेंगे तो हमें सुख मिलेगा। मतलब यह कि माता-पिता की सेवा से लगा-कर दधीचि ऋषि की तरह दूसरों के लिये अपनी हड्डियाँ तक देने के सभी काम हमें करने हैं। ऐसा करेंगे तो ईश्वर हमारा भला करेगा। छुटपन से माँ बाप की आज्ञा में रहकर, गुरु पर भक्ति रखते हुए, विद्या पढ़नी चाहिए; क्योंकि विद्या ही एक ऐसी दिव्य शक्ति है जो मनुष्य की पशुता हटाकर उसका इस लोक और परलोक में कल्याण करती है। परंतु नीति के बिना विद्या किसी काम की नहीं। इसलिये हमें अपने बाल्यकाल से ही सत्य (सच बोलने) को, जो संपूर्ण नीति की जड़ है, अपने मन, वचन और कर्म में रोपना चाहिए। साथ ही साथ छोटी

उम्र से ही ऐसी आदतें डालनी चाहिएँ जिनसे शरीर खूब नीरोग, बलवान् और सहनशील बने। इस तरह मन और तन की शिक्षा प्राप्त कर, बड़े होकर उद्यम, बुद्धि, पराक्रम और ईमानदारी से धन कमाना चाहिए और बुद्धिमानी के साथ उसका ऐसा उपयोग करना चाहिए जिससे सबका कल्याण हो। क्रोध, घमंड आदिक दुष्ट भावों का त्याग करना चाहिए। कुटुंब में प्रेमपूर्वक बर्ताव करना चाहिए, और अपने देशबंधुओं—बल्कि संपूर्ण मनुष्यजाति—के प्रति यही कुटुंबभाव फैलाना चाहिए। राजा और राज्य की, देश और देश की विविध संस्थाओं की, हम प्रेम सहित बहुत कुछ सेवा कर सकते हैं, और सब जगह आपस में एकता रखकर बड़े बड़े काम पूरे कर सकते हैं। इस प्रेम और एकता के व्यवहार को स्थिर रखने के लिये, हृदय क्षमा और दया से भरा हुआ रखना चाहिए, अपकार के बदले में भी उपकार करना चाहिए, स्वयं दुःख सहकर भी दूसरे का भला करने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिए। कर्तव्य के लिये इस तरह दुःख सहने के मौके आदमी को लाखों मिलते हैं। कभी कभी तो प्राण तक देने की नौबत आ जाती है—सचमुच हड्डियों का ढेर करना पड़ता है। ऐसे परोपकारी पुरुषों की हड्डियों से ही राक्षसों पर देवता जय पाते हैं। यह कर्तव्य की पराकाष्ठा है। इस तरह

हमने बहुतसे सद्‌गुणों को लेकर सबको एक एक करके बारीकी से समझा। अब इन बातों का विचार करेंगे कि सद्‌गुण का मामूली स्वरूप क्या है? उसे किस तरह और क्यों व्यवहार में लाना चाहिए? सद्‌गुणों के विषय में कुछ और भी काम की बातें बतलाएँगे।

१२०—मनुष्य और पशु

बुद्ध भगवान् अपने एक पूर्व जन्म में वन में विचर रहे थे कि इतने में उनकी दृष्टि एक भूखी शेरनी पर पड़ी। उसकी सूरत उतरी हुई थी और पेट भीतर को घुस गया था। वह क्षुधा से इतनी विकल थी कि अपने ही बच्चों को, जो दूध पीने आए थे, खा जाना चाहती थी। शेरनी की यह दशा देख बुद्ध भगवान् ने विचार किया—"अहा! प्राणी को अपनी जान कितनी प्यारी होती है! माँ बेटों को खाने को तैयार हो गई है!" बुद्ध भगवान् ऐसे न थे कि मन में कोरी दया लाकर दूर खड़े रहते। उन्होंने तुरंत अपने शिष्यों को आज्ञा दी—"जाओ, पास के वन में से शेरनी के खाने के योग्य एकआध जानवर ले आओ।" शिष्य शेरनी के लिये भोजन तलाश करने गए। इतने में बुद्धदेव ने सोचा—"दूसरे जीव की हत्या क्यों की जाय? यह शरीर किस काम का है? इसलिये, शेरनी बच्चों को खाय इससे

पहले ही अपना शरीर उसके सामने रख दूँ। मेरे शिष्यों को पहले तो बुरा लगेगा लेकिन अंत में मेरे शब्दों की अपेक्षा मेरे कार्य से उनको करुणा का अधिक प्रभाव डालने-वाला उपदेश मिलेगा।" सत्पुरुष दूसरों के दुःख में दुखी और दूसरों के सुख में सुखी होते हैं, इतना ही नहीं, वे दूसरों के दुःख के सामने अपने दुःख को कुछ भी बिसात नहीं समझते।

बुद्धदेव ने अपना शरीर शेरनी के आगे कर दिया और शेरनी ने उसे फाड़कर खाना आरम्भ किया। वे शिष्य वन में कोई जानवर न पाकर वापस आए और देखा कि शेरनी बुद्धदेव का शरीर खा रही है। बुद्धदेव की अपूर्व और अद्भुत दयाशीलता का उदाहरण देखकर शिष्य चकित हो गए और देवताओं और गंधर्वों तक ने विस्मित होकर बुद्ध भगवान् की स्तुति की।

(१) ऊपर की कथा का तात्पर्य केवल मनुष्य और पशु का भेद बतलाना है। वह यह कि पशु अपने प्राण के लिये प्यारे बच्चों को भी खाने के लिये तैयार हो जाता है, और मनुष्य दूसरे को जीता हुआ रखने के लिये अपने प्यारे प्राणों को भी दे डालता है।

(२) आहार, निद्रा इत्यादि कितने ही धर्म मनुष्य और पशु दोनों में समान हैं, लेकिन विवेकशक्ति यानी सच्चा झूठा, भला-बुरा पहचानना, तथा दुःख सहकर भी सच जानना, और भला करना यह मनुष्य ही का अधिकार है।

१२१—हर्क्युलीस और धर्मलक्ष्मी

एक दिन हर्क्युलीस के सामने दो देवियाँ आकर खड़ी हुईं। उनमें से एक ने उतावली होकर कहा—"हर्क्युलीस, जो तू मेरी सलाह मानकर मेरी इच्छानुसार चले तो तुझे दुनिया में किसी कठिनाई का सामना न करना पड़े और तेरे दिन सुख और चैन से कटें। तुझे तरह तरह के भोजन, कपड़े-लत्ते, बाग बगीचे, गाड़ी-घोड़े आदिक आनंद की वस्तुएँ मनमानी मिलें, और दुःख और परिश्रम स्वप्न में भी दिखलाई न दें।"

हर्क्युलीस होशियार और समझदार आदमी था। उसने यह सब सुन तो लिया पर एकदम माना नहीं, क्योंकि उसे उस देवी के मुँह पर झूठी चटक-मटक तो बहुत दीखी, पर विनय, शांति अथवा गहरी सचाई की एक भी रेखा नज़र न आई। इससे उसने उससे पूछा—"देवी, तुम्हारा नाम क्या है?" देवी ने उत्तर दिया—"मेरे स्नेही जन मुझे 'सुखलक्ष्मी' कहते हैं, मेरे शत्रुओं ने मेरा नाम 'दुर्गुणीदेवी' रक्खा है।" दूसरी देवी जिसका नाम धर्म-लक्ष्मी था, सफेद वस्त्र पहने थी, और उसका मुख पवित्र ईश्वरी तेज से चमकता था। वह धीरे से किंतु स्पष्ट शब्दों में बोली—"हर्क्युलीस, मैं तुझे और तेरे माँ-बाप को अच्छी तरह पहचानती हूँ, और जो जो श्रम तुझे उठाने पड़े हैं

वे भी जानती हूँ। जो तू मेरा कहना मानेगा और मेरी इच्छानुसार चलेगा तो तुझे पहले तो कदाचित् संकटों का सामना करना पड़े, पर अंत में तू अवश्य सुखी होगा। संकट के समय भी जो तू मेरा स्मरण रक्खेगा तो तुझे न केवल कोई कष्ट ही व्यापेगा बल्कि तेरा संकट भी आनंद के रूप में बदल जायगा। मैं तुझसे यह झूठी बात तो कहती नहीं कि तुझे बिना मिहनत के सुख मिल जायगा। मैं तो तुझे संसार की सच्ची व्यवस्था ही बतलाती हूँ, कि श्रम बिना कुछ भी नहीं होता। तुझे नीरोग रहना हो तो कसरत कीजियो, पशु न रहकर मनुष्य बनना हो तो विद्या सीखियो, लोक में नाम पाना हो तो लोकोपयोगी काम कीजियो, और जो कुछ भी कीजियो मेरे हेतु कीजियो, क्योंकि ऐसा करने से ही ईश्वर प्रसन्न होता है।" सुख-लक्ष्मी बीच में हँसकर बोली—"हर्क्युलीस, देखा तूने! यह तुझे कैसा विकट रास्ता बतला रही है! ऐसा मूर्ख कौन होगा जो फूलों को छोड़कर काँटों में चले!" यह सुनकर धर्मलक्ष्मी का मुख, जो अभी तक शीतल चन्द्र की भाँति शांत था, प्रतापी सूर्य के समान चमकने लगा। वह उस सुखलक्ष्मी की तरफ क्रोध से देखकर बोली—"अरी दुष्टा, तू इस मनुष्य को, जिसका कल्याण करने के लिये ईश्वर ने मुझे भेजा है, फँसाना चाहती है? जा, अपना काला मुँह कर।" ये शब्द सुनते ही सुखलक्ष्मी का मुख

सूख गया और वह चकराकर और गिड़गिड़ाकर कहने लगी—"माताजी, मैंने आगे बढ़कर इस मनुष्य को वश में करने का यत्न किया, यह मुझसे बड़ा अपराध हुआ। आप क्षमा कीजिए। आज से मैं ऐसा दुस्साहस न करूँगी। मुझे अपनी दासी होकर रहने का ही अधिकार दीजिए।"

धर्मलक्ष्मी का हृदय कोमल था, उसने दया करके सुख-लक्ष्मी की प्रार्थना स्वीकार की।

(इस कथा में नीतिशास्त्र की कई गहरी सचाइयाँ भरी हैं, पर वे ऐसी हैं जो सीधी तरह से बालक को समझाई जा सकती हैं। शिक्षक को उन्हें होशियारी से समझाना चाहिए)—

(१) सुख का लालच—यह मनुष्य को ललचाता है और नीति के विपरीत मार्ग में ले जाना चाहता है।

(२) ऐसे लालच के समय शात होकर विचार करोगे तो तुम्हारे अत.करण में नीति का स्वर धीमा परतु साफ साफ़ सुन देगा, तुम्हारा ही मन तुमसे कहेगा कि तुम बुरा करते हो। सच्चा सुख नीति के मार्ग ही में है, मौज और मज़े में नहीं। इतना ही नहीं बल्कि नीतिमान् मनुष्य दु ख में भी सुख मानता है।

(३) समझदार आदमी सुख के लालच में नहीं फँसता बल्कि नीति के रास्ते पर ही चलता है। उसकी नैतिक बुद्धि सुख के लालच को मार भगाती है और अत में उसे केवल दासी के रूप में स्वीकार करती है, यानी मनुष्य पर सुख का स्वतत्र अधिकार नहीं है; कर्तव्य—धर्म—के पीछे वह भले ही आ जाय, और आता ही है।

(४) शिक्षक को चाहिए कि बालकों के जीवन में से एक-दो मिसालें लेकर उन्हें यह समझावे कि अक्सर सुख और नीति के बीच में कैसा विरोध आ जाता है। ऐसे समय नीति के अनुसार

ही चलना चाहिए, इस बात को बालकों के मन पर अच्छी तरह जमा देना चाहिए। यह भी बतलाना चाहिए कि ऐसा करने से अंत में सुख मिलता है। और जो कभी सुख फ़ौरन् आता न भी दीखे तो भी हमें तो रानी का ही कहा मानना है, दासी का नहीं। सुख की परवा न करते हुए जो नीति कहे वही करना चाहिए—ऐसा दृढ़ निश्चय बालकों के मन में उत्पन्न करना चाहिए।

१२२—आदम और हव्वा

आदम और हव्वा दोनों एक रम्य वन में अपने पिता के साथ रहते थे। आदम पतला मगर सुदृढ़, गठीला और तेजस्वी था। हव्वा भी उषा के समान सुंदर और सुवर्ण के रंग की थी, और उसके मुख पर की गुलाबी छाया उसकी शोभा को और भी बढ़ाती थी। दोनों मिलकर रहते थे और अपने पिता की आज्ञा को बड़ी खुशी और उत्साह से पालते थे। एक बार उनके पिता ने उनसे कहा—"बच्चो, इस वन में खूब आनंद भोगो, पर वह जो एक पेड़ दीखता है उसके फल न खाना। खाओगे तो तुम्हें हानि उठानी पड़ेगी। वह क्या है यह तुम अभी समझ नहीं सकोगे, पर मेरी आज्ञा है कि उसे न खाना। तुम्हारे-जैसे भले बच्चों को इतना कहना ही काफ़ी है।" बच्चों ने कहा—"अच्छा, पिताजी, जो आज्ञा।" एक बार ऐसा हुआ कि हव्वा इस पेड़ के पास होकर जा रही थी कि इतने ही में पास के नाले में से एक साँप मनुष्य की आवाज

में बोला—"अरे, बेचारी हव्वा, तेरा वक्त कैसे कटता होगा? रात-दिन बाप की झिड़कियाँ सुना करती है! यह न खाना, यह न खाना, यह कह कहकर वह तुझे इस वन के फलों का स्वाद ही नहीं लेने देता। देख दूसरे बच्चे कैसी मौज उड़ाते हैं!" हव्वा पहले ज़रा चौंकी, क्योंकि वह अच्छी तरह जानती थी कि पिता उस पर कितना स्नेह करता है, और जैसा उस साँप ने कहा था वैसा अत्याचार तो उसने कभी देखा ही न था। लेकिन उसके मन में इतना ज़रूर आया कि मुझे और सारे सुख भोगने की तो पिता ने आज्ञा दे रक्खी है, इस पेड़ में ऐसा क्या है जो इसका फल खाने को मना कर दिया है? इतने में उस साँप ने कहा—"हव्वा, देख, उसने तुझसे वह फल खाने को मना किया है, देखने को तो मना नहीं किया है!" हव्वा ने फल तोड़ लिया और हाथ में लेकर देखने लगी तो वह साँप धीरे से बोला—"इसका रंग कैसा मनोहर है! जैसा रंग है वैसा ही रस होगा। ज़रा चख तो सही, कोई देखता थोड़ा ही है।" हव्वा लालच में फँस गई और फल खा लिया। इतने में उसके ममतापूर्ण हृदय में यह बात आई कि ऐसा मीठा फल आदम भी चक्खे तो ठीक हो। यह सोच उसने एक फल और तोड़ लिया और वह आदम को जाकर दे दिया। आदम ने कुछ तो फल का रंग देखकर और कुछ हव्वा के प्रेम के कारण खा लिया। इतने में उन्होंने पिता को आते

देखा । शरमाकर वे एक झाड़ी में छिपे, पर पिता ने 'बालको' कहकर जोर से आवाज़ दी । वे सामने आए और लज्जित मुँह लिए नीची निगाह किए खड़े हो गए। पिता जान गया कि उन्होंने फल खाया है । उसने पूछा—"बालको, तुमने मना करने पर भी वह फल खा लिया क्या ?" बालकों ने अपराध स्वीकार किया। 'पुत्र कुपुत्र हो जाय पर माता कुमाता नहीं होती'—इस कहावत के अनुसार पिता ने उन्हें छोड़ा तो नहीं पर आज्ञा भंग करने पर इतनी सजा की कि 'अब से बिना श्रम तुम्हें कैसा भी सुख नहीं मिलेगा।'

(१) मुझे सत्य क्यों बोलना चाहिए? न्यायी क्यों होना चाहिए? इत्यादि शंकाएँ नहीं करनी चाहिएँ। ईश्वर की ऐसी आज्ञा है इसलिये उसे बिना प्रश्न किए पालूँगा, तब अनुभव से अपनेआप मालूम हो जायगा कि ईश्वर की आज्ञाएँ हमारे सुख के लिये ही हैं।

(२) हव्वा को उसके पिता ने कुछ चीमटे में नहीं रक्खा था, वन में तरह तरह के फल-फूल खाने को मना नहीं किया था, सिर्फ़ एक पेड़ का फल खाने को मना किया था । इस बात को साँप ने कैसा बढ़ाकर कहा सो देखो । लालच ऐसे ही शुरू होता है। ऐसे सुखों की इस संसार में कमी नहीं है जो ईश्वर की आज्ञा तोड़े बिना भोगे जा सकें, फिर ईश्वर के लिये—नीति के लिये—एक सुख भी छोड़ना मनुष्य को भारी जान पड़ता है।

(३) हव्वा फल देखने गई और उसे हाथ में लिया तो खाने का मन हुआ। लालच में ऐसा ही होता है। लालच उँगली पकड़कर पहुँचा पकड़ता है।

(४) पापी को अकेले पाप करने में मज़ा नहीं आता, अपने साथ वह दूसरे को भी शामिल करता है । (शिक्षक को यहाँ हुलास, तबाकू, शराब आदि व्यसनों की मिसाल देनी चाहिए) ।

(५) पाप हमेशा छिपा-चोरी किया जाता है पर अंत में उसके लिये उत्तरदायी होना पड़ता है और दंड भोगना पड़ता है ।

(६) जिन्हें पाप के लिये दंड देने का अधिकार है उनका दंड देना क्रूरता नहीं—दया है, क्योंकि ऐसे दंड से पापी मनुष्य सुधरता है ।

१२३—एटलेंटा

एटलेंटा तेज दौड़ने के लिये प्रसिद्ध थी । एक बार उसने हिपोमेनिस के साथ दौड़ने की शर्त की, और वह इस तरह कि अगर हिपोमेनिस आगे निकल जाय तो एटलेंटा उससे शादी कर ले, और अगर एटलेंटा आगे जाय तो हिपोमेनिस को अपना ग़ुलाम बनावे । आज तक एटलेंटा को दौड़ने में कोई जीत नहीं सका था, और इस तरह कितने ही आदमी उसके ग़ुलाम बन चुके थे । इसलिये सबका यही विश्वास था कि बेचारे हिपोमेनिस की भी वही दशा होगी । हिपोमेनिस बड़ा बुद्धिमान् था । उसने एटलेंटा के हराने की एक तरकीब निकाली । उसने सोने के तीन फल बनवाकर अपने पास रक्खे और दौड़ शुरू की । एटलेंटा को आगे निकलता देख हिपोमेनिस ने पीछे से उन तीनों फलों में से एक निकाला और उसे रास्ते के

एक ओर फेंक दिया। एटलेंटा ने उसे देखा तो लालच में आकर उसे लेने को मुड़ी। इतने में हिपोमेनिस कुछ आगे निकल गया। लेकिन एटलेंटा ने फिर उसे पकड़ लिया और आगे चली तब हिपोमेनिस ने दूसरा फल उसके रास्ते में फेंक दिया। उसे लेने के लिये वह ज़रा रुकी, इतने में हिपोमेनिस आगे निकल गया। लेकिन एटलेंटा इतनी तेजी से दौड़ती थी कि उसने फिर उसे सहज ही में पकड़ लिया। फिर हिपोमेनिस ने तीसरा फल डाला। एटलेंटा को अपनी तेजी का पूरा घमंड था और यह सोच कर कि अभी फल को उठाकर उसे फिर पकड़े लेती हूँ, वह फल लेने के लिये रुकी। इतने में तो हिपोमेनिस आगे निकल गया और जहाँ तक दौड़ने की शर्त थी वह जगह आ गई। इस तरह एटलेंटा पीछे रह गई।

(१) दूसरे लालचों में न पड़कर, मूल उद्देश पर ध्यान रखना चाहिए। पाठशाला जाते और लौटते समय कितने ही लड़कों को घूमने फिरने की आदत होती है, कितने ही बतलाए हुए काम को सीधी तरह न करके, बीच में इधर-उधर खेल-कूद में लग जाते हैं। इसी तरह के, बालकों के जीवन के अनेक लालचों को लेकर उनके बुरे फल बतलाने चाहिएँ।

(२) विद्या संपादन करने के समय एटलेंटा के सोने के फलों के जैसे अनेक लालच आते हैं, उनसे डिगना नहीं चाहिए।

(३) इसी तरह नीति के मार्ग में शिथिल करनेवाले और डिगानेवाले अनेक लालच आते हैं, परंतु उनकी ओर ज़रा भी न झुकना चाहिए। सुखरूपी सोने के फल से न ललचाकर सीधे

ीति के रास्ते पर चलना चाहिए। रास्ते में सोने के फल उठाते
ाना और नीति में भी आगे रहना ये दोनों काम करने से जीवन में
ार होती है।

१२४—धृतराष्ट्र की निर्बलता

धृतराष्ट्र अंदर से बुरा नहीं है । पांडवों पर उसे बड़ा
नेह है। वह पांडवों के प्रति अपने कर्तव्य को भली भाँति
ानता है, पर कर्तव्य करने की दृढ़ता और साहस उसमें
हीं है । दुर्योधन ने जब युधिष्ठिर के फँसाने के लिये
ुआ खेलने की तैयारी की तब धृतराष्ट्र ने उसे बहुत कुछ
ामझाया, पर जिस दृढ़ता से उसे उस बुरे काम से रोकना
ाहिए था वह उसने नहीं दिखलाई । उसने सिर्फ मन
ामझाने का मार्ग निकाल लिया । कर्तव्य का मार्ग तो
हाड़ के किनारे की सकड़ी पगडंडी के समान है जिस
र से फिसलकर मनुष्य पहाड़ के बीच में नहीं अटकता,
ीधा गहरे खड्ड में ही गिरता है । धृतराष्ट्र जब दुर्योधन
ो जुआ खेलने से न रोक सका तब उसने अपनी आत्मा
ो धोखा देकर यह निश्चय किया कि भीष्म की देखरेख
ं जुआ खेला जाय तो कुछ हर्ज नहीं। यह बीचवाला मार्ग
ैसा ग़लत निकला यह हम अच्छी तरह जानते हैं। करने
ौर न करने के काम का भेद जाननेवाली और धर्म (नीति)
ार अचल निष्ठा रखनेवाली क्षत्रिय माता गांधारी ने, यह

देखकर कि उसके लड़के की कुबुद्धि कितनी दूर पहुँच गई है, और माता के स्नेह को धर्म की खातिर तोड़कर, धृतराष्ट्र को सलाह दी कि दुर्योधनजैसा पुत्र केवल उपदेश से नहीं मान सकता, इसलिये कुल की भलाई के लिये इसको हटा दिया जाय तो अच्छा। लेकिन इस पर धृतराष्ट्र ने कह दिया कि भले ही कुल का नाश हो जाय, मैं उसे रोक नहीं सकता।

कितनी निर्बलता है! और इस निर्बलता के लिये धृतराष्ट्र कुछ खेद भी करता तो भी ठीक होता, क्योंकि उस पश्चात्ताप से उसका हृदय बलवान् हो जाता और उसे ऐसी कायरता की दशा में से निकलने का किसी न किसी दिन रास्ता सूझ जाता, पर वैसा न करके, वह बात बात में भाग्य की दुहाई देता है!

"भाग्य ही मुख्य है, पुरुषार्थ से कुछ नहीं सरता" ये शब्द या इनसे मिलतेजुलते और शब्द धृतराष्ट्र समय समय पर कहता है और अपनी निर्बलता का बचाव करता है। जैसे जैसे उसके कुल का नाश होता जाता है वैसे वैसे वह, बजाय उससे कुछ शिक्षा लेने के, सब बातों को भाग्य की करामात समझता है, और ऐसा समझने का परिणाम यह होता है कि वह धीरे धीरे अधिकाधिक निर्बलता में डूबता जाता है। जब महाभारत का युद्ध पूरे ज़ोर शोर से जारी है और हज़ारों क्षत्रिय—धृतराष्ट्र

की संतान तक—मरते चले जाते हैं तब भी धृतराष्ट्र संजय से कहता है—"मेरे पुत्र तो मरते जाते हैं पर पांडव नहीं मरते, इसका क्या कारण है?" परंतु अंत में अपने हमेशा के निर्बलतापूर्ण झूठे सिद्धांत का सहारा लेकर दिल को समझा लेता है—"अथवा संजय, किसी न किसी तरह ऐसा ही होने को होगा, विधाता ने जैसा पहले से लिख दिया है वैसा ही होता है, उसमें कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ सकता।"

इस प्रकार पांडवों की जीत में धर्म का माहात्म्य समझने के बदले भाग्य को दोष देनेवाले अंधे धृतराष्ट्र के वचन सुनकर संजय से भी इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि—

"हे राजन्, ध्यान से सुनो, और सुनकर इतनी बात मन में खूब समझ लो कि पांडव किसी तरह के मंत्र-बल से, या छल से, या डर दिखलाकर नहीं लड़ते, वे न्याय के अनुसार लड़ते हैं और लड़ने में शक्तिमान् भी हैं।

"हे राजन्, तुमने अपने दोष से ही यह दुःख पाया है, अपना किया खुद अपने ही को, जीकर और मरकर, यानी इस लोक में और परलोक में, भोगना पड़ता है। तुम्हें जो मिला है वह ठीक ही है।"

संजय का यह वाक्य महाभारत का दूसरा मुख्य सिद्धांत है।

निकल गए, परंतु इतने में सूर्यास्त का समय होता देख घबराए और झटपट जहाज़ पर आ पहुँचे। और दूसरे कितने ही बहुत दूर तो नहीं गए पर पीछे लौटते समय इधर-उधर घूमने में उन्होंने समय खो दिया, और 'हमें छोड़कर जहाज जा कहाँ सकता है' यह सोचकर बेफिक्री से टहलते टहलते किनारे पर आए। इतने में जहाज खुलता देख घबराए और हाँफते हाँफते पानी में भीगते जहाज की तरफ दौड़े और ज्यों त्यों करके जहाज को पकड़ पाए, और जहाज के चलते चलते अंदर कूद पड़े। और बाक़ी कुछ लोग तो ऐसे सुस्त रहे कि उनके किनारे आने से कितनी ही देर पहले जहाज खुल चुका था!

(१) टापू देखने के लिये पाँच-छ घंटे मिले थे, फिर भी जो लोग, इस डर से कि कहीं जहाज़ चल न दे, उसी में बैठे रहे, उन्हें तो हम डरपोक और कायर ही समझेंगे। जब कभी सुख और स्वतंत्रता के मौक़े मिलें तो उनका पूरा उपयोग करना चाहिए।

(२) उत्तम उन्हें समझना चाहिए जो मध्यम दर्जे का सुख और स्वतंत्रता भोगते हैं, और समय पर अपने काम पर आसानी से वापस आ जाते हैं।

(३) ऐसी रीति से सुख भोगने में कोई बुराई नहीं जिसमें कर्तव्य भंग न होता हो। इतना ही नहीं बल्कि इस तरह सुख भोगना मनुष्य का धर्म है, क्योंकि सुख के रस से पुष्प की तरह जीवन खिलता है। पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि एक-

बॅटावाली कथा में बतलाए हुए लोभ के समान कहीं दोहरी लगन-वाला जीवन न हो जाय।

(४) मध्यम वे हैं जो अंतिम समय पर जगकर उतावली से कर्तव्य करने को तैयार हो जायँ।

(५) जो अंत तक प्रमादी बने रहकर, और अंत में ज्यों त्यों कर बड़ी कोशिश करने पर कर्तव्य में शामिल हो जायँ वे कनिष्ठ हैं।

१२६—सोलन और क्रीसस

सोलननामक एक यूनानी विद्वान् देश देश में फिरता हुआ लीडिया में आया। वहाँ क्रीसस नाम का एक बड़ा धनाढ्य राजा राज करता था। उस राजा ने सोलन की प्रशंसा सुनकर उसे अपने महल में बुलाया और उसका बड़ा आदर-सत्कार किया। राजा को इस बात का घमंड था कि मेरे बराबर कोई भी धनाढ्य नहीं है। इसलिये वह सोलन को अपने जवाहरात के कमरे में ले गया और उसे अपना अतुल धन दिखलाया। दूसरे दिन जब दरबार जुड़ा तब राजा ने सुख के अभिमान से मुँह बनाकर सोलन से कहा—"पंडितजी, आपने बहुत देश देखे हैं और अब तक हजारों आदमियों से आप मिल चुके हैं, यह तो बतलाइए कि सबसे ज्यादा सुखी आपने किसे पाया ?"
राजा यह समझता था कि मैंने इसे अपने महल के गिनती सुख बतलाए हैं और कल ही अपना दिखलाया है, इसलिये यह मेरा ही

सोलन ने जवाब दिया—"राजा साहब, मैंने टेलस नाम के पथीनियन से बढ़कर सुखी और कोई नहीं देखा।"

राजा चकरा गया और क्षणभर दम लेकर बोला—"पंडितजी, ऐसा आपने उसमें क्या देखा?" सोलन ने कहा—"राजा, टेलस एक अच्छे राज्य में रहता था। उसके सद्‌गुणी और भले लड़के थे, लड़कों के लड़के थे और उन सबको जीता जागता छोड़कर वह मर गया। इस दुनिया में उसने ऐसा सुखी जीवन बिताया जैसा कि मनुष्य के भाग्य में, अधिक से अधिक, हो सकता है, और अंत में उसकी मौत भी बड़ी अच्छी हुई। अपने देश (पथेंस) की तरफ से शत्रु से लड़ा, शत्रु को मार भगाया और लड़ता लड़ता मर गया। लड़ाई के मैदान में जहाँ वह गिरा था वहीं उसके देशभाइयों ने उसे गाड़ा और उसका बड़ा सम्मान किया।"

क्रीसस समझा कि केवल टेलस की तारीफ करने के लिये ही सोलन ने इस तरह जवाब दिया है। इससे उसने फिर पूछा कि दूसरे नंबर पर तुम किसे रखते हो? सोलन ने कहा—"दूसरे नंबर पर मैं क्लिओबिस और बाईटोन नाम के दो भाइयों को रखता हूँ।" क्रीसस बोला—"इनमें ऐसी कौनसी बात थी?" सोलन ने जवाब दिया—"वे खाते-पीते (साधारणत अच्छी स्थिति के) थे और उनके शरीर सुदृढ़ थे। एक दिन देवी का उत्सव था, जिसे

देखने इनकी माता रथ में बैठकर जाना चाहती थी, परंतु खेत पर से बैल आ नहीं सके और दर्शन का समय निकलने को हुआ, इससे वे खुद रथ खींचकर ४५ स्टेडियम की दूरी पर देवी के मंदिर तक ले गए। लोग दोनों भाइयों की अद्‌भुत मातृभक्ति देखकर दंग रह गए। 'धन्य है इनकी जननी को' इस तरह स्त्रियाँ भी चारों ओर से वाह वाह करने लगीं। माता तो खुशी के मारे पागलसी हो गई और उसने देवी की स्तुति की कि माताजी, मनुष्य के कर्म में जो उत्तम से उत्तम सुख हो वह मेरे लड़कों को देना। हवन कर, खा पीकर सब सो गए। क्लिओबिस और बाईटोन भी सो गए—पर फिर वे नहीं उठे।

फिर भी सोलन ने क्रीसस का नाम नहीं लिया इससे क्रीसस को बड़ा गुस्सा आया और उससे यह कहे बिना न रहा गया कि पंडितजी, तो क्या मैं आपकी गिनती में हूँ ही नहीं? सोलन ने उत्तर दिया—"राजा, मरने से पहले मनुष्य को सुखी या दुखी कहना ठीक नहीं। मनुष्य मामूली तौर से सत्तर वर्ष जीता है और इन वर्षों के कोई दो दिन भी एकसे नहीं होते। बहुत बार ईश्वर सुख दिखाकर दुःख दिखाता है और दुःख दिखाकर सुख दिखाता है। इसलिये सुख देखकर खुश होना नहीं चाहिए और न दुःख देखकर निराश।"

राजा का एक लड़का गूँगा था जिसकी वजह से उसे

बड़ी बेचैनी रहती थी। एक बार उसने भविष्यवाणी से पूछा कि यह लड़का कब बोलने लगेगा? भविष्यवाणी ने जवाब दिया—"राजा, इस तरह बेचैन रहना तेरी बड़ी भूल है। इसी में खैर है कि यह न बोले। यह बोलेगा तब तुझे दुःख होगा।"

क्रीसस का ईरान के राजा सायरस के साथ युद्ध हुआ। और एक ईरानी क्रीसस पर टूट पड़ा, तब उसके गूँगे लड़के की जीभ यकायक चिंता होने के कारण खुल गई और वह बोल उठा—"ओ भाई, क्रीसस को न मारना।" वह ईरानी क्रीसस को छोड़ देता, पर अब तो वह जान गया कि यही क्रीसस है। भला फिर वह क्यों छोड़ने लगा? उसने उसे क़ैद कर लिया और सायरस के सामने पेश किया। सायरस ने उसके पैरों में बेड़ियाँ डलवा दीं और उसे एक चिता पर बैठाकर उसमें आग लगाने का हुक्म दिया। उस समय क्रीसस को सोलन के शब्द याद आए कि मरने से पहले कोई मनुष्य सुखी या दुखी नहीं कहा जा सकता। मैं पहले कैसा था और आज कैसा हूँ ऐसा विचार करते ही उसने एक लंबी साँस भरी और उसके मुँह से 'सोलन! सोलन!! सोलन!!!' ये शब्द निकले। सायरस ने पूछा—"क्रीसस, अब किसको याद करता है?" क्रीसस ने जवाब दिया—"सायरस, मुझे इस समय एथेंस का एक विद्वान् याद आता है। राजा लोग

दौलत के नशे में चूर होने के बजाय उसजैसों का उपदेश लें तो कैसा अच्छा हो! मैंने एक बार उससे पूछा कि दुनिया में सबसे ज्यादा सुखी कौन है? तो वह मुझसे कह गया कि जीते जी तो कोई भी मनुष्य सुखी या दुखी नहीं कहा जा सकता, मरने पर ही कहा जा सकता है!"

सायरस ने क्रीसस को चिता पर से उतरवा लिया और बहुत आदर के साथ अपने पास बिठलाया।

(१) सतान का सुख होना, देश सेवा करना, और देश-सेवा करते करते मरना—यह उत्तम सुख है।

(२) शरीर से स्वस्थ होना, माता पिता की सेवा करना, और उनका आशीर्वाद पाना—यह दूसरा सुख है।

(३) शरीर का स्वास्थ्य और माता पिता की सेवा यह सब सुखों का स्तंभ है, और स्वदेश-सेवा कलश है।

(४) यहाँ पर एक गाड़ी में दोनों भाइयों के जुड़ने का उपदेश भी समझने लायक है।

(५) सुख और दुःख गाड़ी के पहियों के समान हैं, ये धूप और छाया की तरह हमेशा फिरा ही करते हैं। क्रीसस जब राज भोगता था तब कौन जानता था कि एक दिन उसे कैद होकर चिता पर चढ़ना पड़ेगा? और जब चिता में अग्नि लगाई जानेवाली थी तब कौन जानता था कि वह वहाँ से उतारकर राजा के पास बिठलाया जायगा? 'सुख तो आज है और कल नहीं', और 'जो जीये सो खेले फाग' ये वचन याद रखकर सुख से फूल न जाना चाहिए, और न दुःख से दब ही जाना चाहिए। सुख में नम्र और दुःख में धैर्य, ये बड़े भारी सद्गुण हैं।

(६) विद्वान् के शब्द कितने मूल्यवान् निकलते हैं यह सालन

और क्रीसस की कथा से समझ में आवेगा। जीवित अवस्था में कोई सुखी या दुखी नहीं कहा जा सकता, मरने पर ही कहा जा सकता है—यह बात कैसी सच्ची साबित हुई !

(७) तुम्हें सोलन और क्रीसस दोनों में से कौनसा बड़ा जान पड़ा ? (यह प्रश्न भी विद्यार्थियों से पूछने लायक है)

१२७—विषयद्वीप की मोहिनियाँ

ईश्वर ने मनुष्य को संसार के सुख भोगने की स्वाधीनता दे रक्खी है, पर नीति के सुखों को भोगने की, अनीति के सुखों को भोगने की नहीं। विषय (अनीति के सुख) का लालच मनुष्य को किस तरह इधर-उधर फँसाता है और उससे बचने का उपाय क्या है, इस बारे में ग्रीक साहित्य में एक बड़ी अच्छी कथा है। कहा जाता है कि जीवन समुद्र में कितने ही मनोहर द्वीप हैं और उनमें 'साइरन' अर्थात् मोहिनी नाम की अप्सराएँ रहती हैं। पहले उन अप्सराओं के पर थे, पर ज्ञानदेवी के साथ उनकी लड़ाई हुई जिसमें ज्ञानदेवी ने उनके पर उखाड़ डाले और उन परों से अपने सिर का मुकुट बना लिया। ये अप्सराएँ जब कभी इन द्वीपों के पास से किसी जहाज को आता जाता देखती हैं तभी मधुर गीत गाना शुरू कर देती हैं, जिसके सुर और तान कान को ऐसे मीठे लगते हैं कि बहुतसे मुसाफिरों के जहाज इस ओर खिंचकर इन अप्सराओं के पंजे में पड़

जाते हैं और भाँति भाँति के कष्ट झेलने के बाद अंत में मौत के हाथ जा पड़ते हैं। ऐसे अनेक भाग्यहीन जीवों की हड्डियों से भरे हुए ये द्वीप साफ दिखाई पड़ते हैं, और कोई भाग्यवान् यात्री ही इनसे सावधान रहकर अपना जहाज सीधा ले जा सकता है। अभी तक इन अप्सराओं से बचने के केवल दो रास्ते मालूम हुए हैं—एक यूलीसिस ने निकाला था और दूसरा आरफियुस ने। यूलीसिस ने अपने साथ के सब यात्रियों के कान रुई के फाहों से बंद करा दिए थे और अपने जहाज़ के मस्तूल से अपने को बाँध लिया था, और मल्लाहों को ताकीद कर दी थी कि मैं कहूँ तो भी मुझे न खोलना। आरफियुस ने इस तरह बँधना वाहियात समझा, उसने वीणा लेकर ईश्वर का भजन गाना शुरू किया और ऐसे ऊँचे सुरों में गाया कि उन अप्सराओं का गाना सुनाई ही न दे।

(१) जीवन-समुद्र में हमें अपना जहाज़ अनेक लालचों के पास होकर चलाना है।

(२) मनुष्य की जंगली दशा में सुख के लालच चारों तरफ़ उड़ते फिरते थे, मनुष्य को ज्ञान हुआ तब उन लालचों का प्रदेश घटा—और विषय के साथ जुड़ने के बदले सुख, ज्ञान के साथ भी, जुड़ा, और सुख का मुकुट पहनकर ज्ञान और भी अधिक चित्ताकर्षक बन गया।

(३) इस यात्रा में हमें नीति के मार्ग पर चलना चाहिए;

बीच में अनीति के लालच आवें तो उनमें फँसना नहीं चाहिए, क्योंकि अनीति से अंत में नाश होता है।

(४) विषय के लालचों में फँसने से बचने के तीन उपाय हैं—

(क) कानों में फाहे रखकर अप्सराओं के गीत कानों में पड़ने ही न देना—यानी, विषय के लालचों का सामना करने की नौबत ही न आने देना। यह मार्ग कनिष्ठ अधिकारियों का है और यूलीसिस द्वारा मल्लाहों को बतलाए हुए मार्ग के समान है।

(ख) अप्सराओं का गाना निर्भयता से सुनना, परंतु मस्तूल के बाँस से इतने ज़ोर से बँधे रहना कि वहाँ से हिल भी न सके। यह मार्ग मध्यम अधिकारियों का है। इसमें विषय के लालचों से सामना तो होता है पर दृढ़ता से और बनावटी बंधनों से बँधे रहने के कारण उनमें फँसने से लोग बच जाते हैं।

(ग) दिव्य संगीत से विषय संगीत को दबा देना, न तो कान में फाहे रखने हैं और न किसी बंधन को सहना है, केवल एक के स्वाभाविक बल से दूसरे को जीतना है। यही उपाय उत्तम है। इसमें किसी तरह की बनावट नहीं।

(५) ऊपर बतलाए हुए गंभीर तत्त्व सीधे रूप में इस प्रकार बतलाए जा सकते हैं—

बुरे मार्ग पर जाने से बचने के तीन उपाय हैं—

(क) लालच से दूर रहना।

(ख) ऐसी अच्छी सोहबत में रहना कि बुरे मार्ग पर जाने का अवसर ही न आवे।

(ग) हमेशा ईश्वर का ऐसा स्मरण करना और नीति के ऐसे उपदेश याद करते रहना कि अनीति का मोह हो ही न सके।

ये तीनों उपाय एक दूसरे से अधिक अच्छे हैं, परतु तीनों साथ साथ भी किए जा सकते हैं, और ऐसा ही करना बुद्धिमानी है— लालच से दूर रहना, अच्छी सोहबत रखना, और ईश्वर की स्तुति करना।

१२८—युधिष्ठिर और यक्ष

पांडव लोग वन में फिर रहे थे। एक बार सूर्य के कड़े ताप से उन्हें बड़ी प्यास लगी। युधिष्ठिर ने नकुल से कहा— "भाई नकुल, तू इस बड़ के पेड़ पर चढ़कर चारों तरफ देख कि आसपास कोई जलाशय है या नहीं? कहीं उसके किनारेवाले वृक्ष भी दीखते हैं?" नकुल "बहुत अच्छा" कहकर बड़ के पेड़ पर तुरंत चढ़ गया और चारों तरफ देखकर युधिष्ठिर से बोला—"जलाशय के तीर के बहुत-से वृक्ष यहाँ से दीख पड़ते हैं और सारस पक्षियों का शब्द भी सुनाई देता है, इसलिये उस जगह पानी अवश्य होना चाहिए।" यह सुन युधिष्ठिर ने नकुल से कहा—"तो तू झट वहाँ जा और बाणों के तरकसों में पानी भर ला।"

बड़े भाई की आज्ञानुसार वह दौड़ा और फौरन् जलाशय के पास जा पहुँचा। वहाँ सारस पक्षियों से शोभित निर्मल पानी देखकर नकुल उसे पीना ही चाहता था कि उसने

एक यक्ष की आकाशवाणी सुनी—"हे माद्री के पुत्र, तू साहस मत कर, यह स्थान मेरा है और मैंने पहले से ही यह नियम कर रक्खा है कि जो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे उसके वही इसका पानी पिए।" नकुल को बड़ी प्यास लगी थी इससे उसने उसकी बात की कुछ परवा न कर पानी पी लिया। पर पीते ही वह पृथ्वी पर ढुलक पड़ा।

नकुल को देर हुई तो युधिष्ठिर को चिंता होने लगी, उसने तुरंत सहदेव को उसके पीछे रवाना किया। सहदेव की भी नकुलजैसी दशा हुई।

युधिष्ठिर की चिंता बढ़ने लगी। तुरंत अर्जुन को भेजा। अर्जुन भी प्यासा था, पानी पीने जाने लगा कि यक्ष ने ऊपर कही हुई बात कहकर उसे रोका। अर्जुन क्रोध करके बोला—"सामने आ, और तब मुझे रोक, तो मैं तुझे बाणों से बेध डालूँ जिससे फिर तू इस तरह बोल ही न सके।" अर्जुन ने सब दिशाओं में शस्त्रों की वर्षा की और अपनी शब्दवेधन की कुशलता दिखलाई। उस समय यक्ष बोला—"अरे अर्जुन, तू वृथा क्यों मिहनत करता है? तेरे बाण मुझे छु तक नहीं सकते। मेरे प्रश्नों का उत्तर दे और फिर पानी पी, नहीं तो अपने को मरा हुआ ही समझ।" पर अर्जुन ने इसकी कुछ परवा न की और पानी पी लिया। तुरंत वह भी मूर्च्छा खाकर अपने दूसरे भाइयों के साथ पृथ्वी पर गिर गया।

युधिष्ठिर ने अत्यंत चिंतातुर होकर भीमसेन को भेजा। परंतु उसकी भी वही दशा हुई। तब युधिष्ठिर स्वयं जलाशय पर गया और देखा कि उसके चारों भाई मुर्दों की तरह चित पड़े हैं। युधिष्ठिर का कलेजा फट गया, धीरज धारण कर बहुत कुछ सोच-विचार किया लेकिन भाइयों के मरने का कोई कारण समझ में न आया। स्वयं प्यासा था इसलिये सरोवर का जल पीने को उतरा। इतने में एक आकाशवाणी सुनाई दी।

यक्ष बोला—"मैंने तेरे भाइयों को मार डाला है, लेकिन बिना कारण नहीं। मैंने उनसे कहा था कि मेरे प्रश्नों का उत्तर दो फिर मेरे सरोवर से पानी पीना, पर उन्होंने ज़बरदस्ती पानी पीना शुरू कर दिया, इसी से उनकी यह दशा हुई है। तू भी अगर मेरे प्रश्नों का उत्तर दिए बिना पानी पीने जायगा तो पृथ्वी पर धम्से गिरेगा।" युधिष्ठिर ने कहा—"मैं तेरी वस्तु तेरी अनुमति के बिना नहीं लेना चाहता। और मुझे यह भी अभिमान नहीं है कि मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर दे ही सकूँगा। परंतु तू पूछे तो अपनी बुद्धि के अनुसार यत्न करूँ।"

यक्ष ने बहुतसे प्रश्न पूछे और युधिष्ठिर ने सबका अच्छा उत्तर दिया। यह सब मैं तुम्हें किसी दूसरे अवसर पर बतलाऊँगा, क्योंकि उनमें से कुछ तुम्हारे सुनने, विचारने और मनन करने योग्य हैं। आज तो तुम्हें केवल इतना

एक यक्ष की आकाशवाणी सुनी—"हे माद्री के पुत्र, तू साहस मत कर, यह स्थान मेरा है और मैंने पहले से ही यह नियम कर रक्खा है कि जो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे सके वही इसका पानी पिए।" नकुल को बड़ी प्यास लगी थी इससे उसने उसकी बात की कुछ परवा न कर पानी पी लिया। पर पीते ही वह पृथ्वी पर लुढ़क पड़ा।

नकुल को देर हुई तो युधिष्ठिर को चिंता होने लगी, उसने तुरंत सहदेव को उसके पीछे रवाना किया। सहदेव की भी नकुलजैसी दशा हुई।

युधिष्ठिर की चिंता बढ़ने लगी। तुरंत अर्जुन को भेजा। अर्जुन भी प्यासा था, पानी पीने जाने लगा कि यक्ष ने ऊपर कही हुई बात कहकर उसे रोका। अर्जुन क्रोध करके बोला—"सामने आ, और तब मुझे रोक, तो मैं तुझे बाणों से वेध डालूँ जिससे फिर तू इस तरह बोल ही न सके।" अर्जुन ने सब दिशाओं में शस्त्रों की वर्षा की और अपनी शब्दवेधन की कुशलता दिखलाई। उस समय यक्ष बोला—"अरे अर्जुन, तू वृथा क्यों मिहनत करता है? तेरे बाण मुझे छू तक नहीं सकते। मेरे प्रश्नों का उत्तर दे और फिर पानी पी, नहीं तो अपने को मरा हुआ ही समझ।" पर अर्जुन ने इसकी कुछ परवा न की और पानी पी लिया। तुरंत वह भी मूर्च्छा खाकर अपने दूसरे भाइयों के साथ पृथ्वी पर गिर गए।

युधिष्ठिर ने अत्यंत चिंतातुर होकर भीमसेन को भेजा। परंतु उसकी भी वही दशा हुई। तब युधिष्ठिर स्वयं जलाशय पर गया और देखा कि उसके चारों भाई मुर्दों की तरह चित पड़े हैं। युधिष्ठिर का कलेजा फट गया, धीरज धारण कर बहुत कुछ सोच विचार किया लेकिन भाइयों के मरने का कोई कारण समझ में न आया। स्वयं प्यासा था इसलिये सरोवर का जल पीने को उतरा। इतने में एक आकाशवाणी सुनाई दी।

यक्ष बोला—"मैंने तेरे भाइयों को मार डाला है, लेकिन बिना कारण नहीं। मैंने उनसे कहा था कि मेरे प्रश्नों का उत्तर दो फिर मेरे सरोवर से पानी पीना, पर उन्होंने ज़बरदस्ती पानी पीना शुरू कर दिया, इसी से उनकी यह दशा हुई है। तू भी अगर मेरे प्रश्नों का उत्तर दिए बिना पानी पीने जायगा तो पृथ्वी पर धम्से गिरेगा।" युधिष्ठिर ने कहा—"मैं तेरी वस्तु तेरी अनुमति के बिना नहीं लेना चाहता। और मुझे यह भी अभिमान नहीं है कि मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर दे ही सकूँगा। परंतु तू पूछे तो अपनी बुद्धि के अनुसार यत्न करूँ।"

यक्ष ने बहुतसे प्रश्न पूछे और युधिष्ठिर ने सबका अच्छा उत्तर दिया। यह सब मैं तुम्हें किसी दूसरे अवसर पर बतलाऊँगा, क्योंकि उनमें से कुछ तुम्हारे सुनने, विचारने और मनन करने योग्य हैं। आज तो तुम्हें केवल इतना

की अंधी लगन नहीं, बल्कि विवेक-पूर्ण है। उसकी प्रीति भीम पर सबसे ज्यादा थी और उसका काम अर्जुन की मदद से खूब चलता था, परंतु ऐसी स्वार्थी दृष्टि के वश होकर नहीं, न्याय की दृष्टि से युधिष्ठिर ने 'नकुल जी जाय' यही माँगा। इसी का नाम धर्म (नीति) है।

(७) धर्म के दसों अंगों को ध्यान में रखना चाहिए।

(८) यक्ष के पूछे हुए प्रश्न और युधिष्ठिर के दिए हुए जवाब जानने लायक हैं। वे विद्यार्थियों को किसी दूसरे प्रसंग पर बतलाने चाहिएँ।

१२६—समुद्रमंथन

देवता और दैत्य एक ही पिता के पुत्र हैं लेकिन उनकी माताएँ अलग अलग थीं। एक की अदिति और दूसरे की दिति। देवता और दैत्य स्वर्ग के राज्य के लिये खूब लड़ते थे। कभी देवताओं की जीत होती और कभी दैत्यों की। एक बार युद्ध में बहुतसे देवता घायल हुए और प्राणरहित हो होकर ज़मीन पर गिरने लगे। तब उनमें के बड़े बड़े देवता—इंद्र आदि—विष्णु भगवान् के पास गए और उनकी स्तुति करके उनसे इस संकट से बचने का उपाय पूछा। विष्णु भगवान् ने कहा—"जब तक तुम अमृतपान न करोगे तब तक दैत्यों के सामने न ठहर सकोगे, इसलिये अमृत पाने का यत्न करो।" देवों ने हाथ जोड़कर फिर प्रार्थना की—'हे भगवन्, हमें यह बतलाइए

काम आगे बढ़ा; उसमें से अनेक मनोहर रत्न निकले, पर देवता लोग 'अमृत लिए बिना न मानेंगे' ऐसा दृढ़ निश्चय कर, इसी लगन के साथ अपने काम में चिपटे रहे और अंत में उन्होंने अमृत निकाल ही लिया।

अमृत निकलते ही देवताओं और दैत्यों में फिर झगड़ा शुरू हो गया, ये कहते थे कि हम पियें और वे कहते थे कि हम पियें। इतने में भगवान् मोहिनी रूप धरकर वहाँ आए। दैत्य उनके वश में हो गए और यह ठहरी कि जिसे ये अमृत पिलावें वही पिए। भगवान् ने देवताओं को अमृत पिलाया जिससे देवता अमर हो गए।

(१) आपस का वैर छोड़ सब इकट्ठे होकर काम करें तभी बड़ा काम पूरा होता है, इसलिये विरोधियों के साथ भी ऐसे काम में शामिल होना चाहिए।

(२) काम करने के समय अपनी इज़्ज़त आबरू का घमंड न करना चाहिए। मैं बड़ा हूँ, इसलिये मेरे हिस्से में ऊँचा काम आना चाहिए और दूसरे के पास नीचा काम जाना चाहिए—इस ढंग से काम की बाँट उचित नहीं।

(३) विद्या, कुल, पराक्रम तो दैत्यों में भी होते हैं, पर जिसका आचार अच्छा हो वही देवता और जिसका आचार बुरा हो वही दैत्य है।

(४) संसार व्यवहार को खूब हिलाए-डुलाए बिना अमृत नहीं मिलता और नीति की जय नहीं होती।

(५) संसार के व्यवहार में बहुतसी मुसीबतें आती हैं, और अंतिम उद्देश्य सिद्ध होने के पहले बीच ही में, अटकानेवाले लालच

काम आगे बढ़ा; उसमें से अनेक मनोहर रत्न निकले, पर देवता लोग 'अमृत लिए बिना न मानेंगे' ऐसा दृढ़ निश्चय कर, इसी लगन के साथ अपने काम में चिपटे रहे और अंत में उन्होंने अमृत निकाल ही लिया।

अमृत निकलते ही देवताओं और दैत्यों में फिर झगड़ा शुरू हो गया, ये कहते थे कि हम पिएँ और वे कहते थे कि हम पिएँ। इतने में भगवान् मोहिनी रूप धरकर वहाँ आए। दैत्य उनके वश में हो गए और यह ठहरी कि जिसे वे अमृत पिलावें वही पिए। भगवान् ने देवताओं को अमृत पिलाया जिससे देवता अमर हो गए।

(१) आपस का वैर छोड़ सब इकट्ठे होकर काम करें तभी बड़ा काम पूरा होता है, इसलिये विरोधियों के साथ भी ऐसे काम में शामिल होना चाहिए।

(२) काम करने के समय अपनी इज़्ज़त आबरू का घमंड न करना चाहिए। मैं बड़ा हूँ, इसलिये मेरे हिस्से में ऊँचा काम आना चाहिए और दूसरे के पास नीचा काम जाना चाहिए—इस ढंग से काम की बाँट उचित नहीं।

(३) विद्या, कुल, पराक्रम तो दैत्यों में भी होते हैं, पर जिसका आचार अच्छा हो वही देवता और जिसका आचार बुरा हो वही दैत्य है।

(४) संसार-व्यवहार को खूब हिलाए-डुलाए बिना अमृत नहीं मिलता और नीति की जय नहीं होती।

(५) संसार के व्यवहार में बहुतसी मुसीबतें आती हैं, और अंतिम उद्देश्य सिद्ध होने के पहले बीच ही में, अटकानेवाले लालच

काम आगे बढ़ा, उसमें से अनेक मनोहर रत्न निकले, पर देवता लोग 'अमृत लिए बिना न मानेंगे' ऐसा दृढ निश्चय कर, इसी लगन के साथ अपने काम में चिपटे रहे और अंत में उन्होंने अमृत निकाल ही लिया।

अमृत निकलते ही देवताओं और दैत्यों में फिर झगड़ा शुरू हो गया, ये कहते थे कि हम पियें और वे कहते थे कि हम पियें। इतने में भगवान् मोहिनी रूप धरकर वहाँ आए। दैत्य उनके वश में हो गए और यह ठहरी कि जिसे वे अमृत पिलावें वही पिए। भगवान् ने देवताओं को अमृत पिलाया जिससे देवता अमर हो गए।

(१) आपस का वैर छोड़ सब इकट्ठे होकर काम करें तभी बड़ा काम पूरा होता है, इसलिये विरोधियों के साथ भी ऐसे काम में शामिल होना चाहिए।

(२) काम करने के समय अपनी इज़्ज़त आबरू का घमंड न करना चाहिए। मैं बड़ा हूँ, इसलिये मेरे हिस्से में ऊँचा काम आना चाहिए और दूसरे के पास नीचा काम जाना चाहिए—इस ढंग से काम की बाँट उचित नहीं।

(३) विद्या, कुल, पराक्रम तो दैत्यों में भी होते हैं, पर जिसका आचार अच्छा हो वही देवता और जिसका आचार बुरा हो वही दैत्य है।

(४) संसार व्यवहार को खूब हिलाए-डुलाए बिना अमृत नहीं मिलता और नीति की जय नहीं होती।

(५) संसार के व्यवहार में बहुतसी मुसीबतें आती हैं, और अंतिम उद्देश्य सिद्ध होने के पहले बीच ही में, अटकानेवाले आकर्षक

काम आगे बढ़ा, उसमें से अनेक मनोहर रत्न निकले, पर देवता लोग 'अमृत लिए बिना न मानेंगे' ऐसा दृढ़ निश्चय कर, इसी लगन के साथ अपने काम में चिपटे रहे और अंत में उन्होंने अमृत निकाल ही लिया।

अमृत निकलते ही देवताओं और दैत्यों में फिर झगड़ा शुरू हो गया, ये कहते थे कि हम पिएँ और वे कहते थे कि हम पिएँ। इतने में भगवान् मोहिनी रूप धरकर वहाँ आए। दैत्य उनके वश में हो गए और यह ठहरी कि जिसे वे अमृत पिलावें वही पिए। भगवान् ने देवताओं को अमृत पिलाया जिससे देवता अमर हो गए।

(१) आपस का बैर छोड़ सब इकट्ठे होकर काम करें तभी बड़ा काम पूरा होता है, इसलिये विरोधियों के साथ भी ऐसे काम में शामिल होना चाहिए।

(२) काम करने के समय अपनी इज़्ज़त आबरू का घमंड न करना चाहिए। मैं बड़ा हूँ, इसलिये मेरे हिस्से में ऊँचा काम आना चाहिए और दूसरे के पास नीचा काम जाना चाहिए—इस ढंग से काम की बाँट उचित नहीं।

(३) विद्या, कुल, पराक्रम तो दैत्यों में भी होते हैं, पर जिसका आचार अच्छा हो वही देवता और जिसका आचार बुरा हो वही दैत्य है।

(४) संसार-व्यवहार को खूब हिलाए-डुलाए बिना अमृत नहीं मिलता और नीति की जय नहीं होती।

(५) संसार के व्यवहार में बहुतसी मुसीबतें आती हैं, और अंतिम उद्देश्य सिद्ध होने के पहले बीच ही में, अटकानेवाले लालच

की अधी लगन नहीं, बल्कि विवेक-पूर्ण है। उसकी प्रीति भीम पर सबसे ज्यादा थी और उसका काम अर्जुन की मदद से खूब चलता था, परतु ऐसी स्वार्थी दृष्टि के वश होकर नहीं, न्याय की दृष्टि से युधिष्ठिर ने 'नकुल जी जाय' यही माँगा। इसी का नाम धर्म (नीति) है।

(७) धर्म के दशों अगों को ध्यान मे रखना चाहिए।

(८) यक्ष के पूछे हुए प्रश्न और युधिष्ठिर के दिए हुए जवाब जानने लायक हैं। वे विद्यार्थियों को किसी दूसरे प्रसग पर बतलाने चाहिएँ।

१२६—समुद्रमंथन

देवता और दैत्य एक ही पिता के पुत्र हैं लेकिन उनकी माताएँ अलग अलग थीं। एक की अदिति और दूसरे की दिति। देवता और दैत्य स्वर्ग के राज्य के लिये खूब लड़ते थे। कभी देवताओं की जीत होती और कभी दैत्यों की। एक बार युद्ध में बहुतसे देवता घायल हुए और प्राणरहित हो होकर ज़मीन पर गिरने लगे। तब उनमें के बड़े बड़े देवता—इद्र आदि—विष्णु भगवान् के पास गए और उनकी स्तुति करके उनसे इस सकट से बचने का उपाय पूछा। विष्णु भगवान् ने कहा—"जब तक तुम अमृतपान न करोगे तब तक दैत्यों के सामने न ठहर सकोगे, इसलिये अमृत पाने का यत्न करो।" देवों ने हाथ जोड़कर फिर प्रार्थना की—'हे भगवन्, हमें यह बतलाइए

कि यह अमृत हमें कहाँ से और कैसे मिल सकता है; और आप ही इस बात का बंदोबस्त कीजिए कि मिलने पर भी दैत्य लोग उसे हमारे हाथ से छीनकर न पी जायँ।" भगवान् ने कहा—"इस समुद्र को मथो, इसके मथने से अंत में अमृत निकलेगा। पहले कालकूट—विष—पैदा हो तो उससे डरना मत, बीच बीच में और भी कितनी ही मनोहर चीजें निकलें तो उन्हें भी लेने का लोभ न करना। लेकिन एक बात है, तुम अकेले समुद्र को मथ नहीं सकोगे। इस काम के लिये दैत्यों को भी मिलाना होगा, इसलिये अब तुम दैत्यों के पास जाओ और उनसे मेल करो। उनसे मेल करके, मंदराचल की रई (मथनी) और वासुकि नाग की नेती (रस्सी) बनाकर, मेरी सहायता से, सावधान होकर, समुद्र को मथना शुरू कर दो।" देवताओं ने भगवान् की आज्ञानुसार दैत्यों से मेल किया और दोनों ने अमृत पाने के लिये समुद्र मथने का काम शुरू किया। भगवान् देवताओं के साथ रहे। भगवान् ने पहले सर्प के मुख की ओर का भाग हाथ में लिया, देवताओं ने भी वहीं लिया। लेकिन दैत्यों को यह बात पसंद न आई। वे बोले—"हम वेद-शास्त्र जाननेवाले हैं और जन्म और कर्म से श्रेष्ठ हैं, इसलिये सर्प का मनहूस और बुरा अंग—पूँछ—हम न पकड़ेंगे।" यह सुनकर भगवान् ने हँसकर मुख का भाग छोड़ दिया और पूँछ को ले लिया। देवताओं

ने भी वही भाग पकड़ लिया और दैत्यों को मुख की ओर का भाग दे दिया।

मंथन शुरू करते ही पर्वत समुद्र में डूबने लगा, परंतु भगवान् ने कछुए का रूप धरकर उसे अपनी पीठ के ऊपर टिका लिया और समुद्रमंथन में मदद दी। भगवान् के कहे अनुसार शुरू ही में विष निकला और चारों दिशाओं में फैलकर त्रिलोकी को जलाने लगा। यह देख महादेव-जी को दया आई, पार्वती से बोले—"प्रिये, एक बड़ी दुःख-दायी दशा पैदा हुई है, क्षीरसमुद्र का मंथन करते करते उसमें से कालकूट नाम का अद्भुत विष पैदा हुआ है और उससे त्रिलोकीभर को कष्ट हो रहा है। सभी प्राणी अपने प्राणों की रक्षा चाह रहे हैं, मुझे उनकी रक्षा करनी चाहिए। दीन प्राणियों की रक्षा करना ही बलवान् पुरुष का काम है। प्राणी तो अज्ञान के कारण परस्पर वैरभाव रखते हुए एक दूसरे का नाश करने को तैयार हो जाते हैं, परंतु महात्मा पुरुषों को तो अपने क्षणभगुर (थोड़े दिन में नष्ट हो जानेवाले) शरीर को देकर भी प्राणियों की रक्षा करनी चाहिए। हे देवी, जो पुरुष दूसरों पर दया करते हैं उन पर सबके रक्षक भगवान् प्रसन्न होते हैं—यही बतलाने के लिये मैं इस विष को पीता हूँ। मुझसे और मेरे द्वारा प्राणीमात्र की रक्षा हो!"

यह कहकर महादेवजी विष पी गए। समुद्रमंथन का

ाम आगे बढ़ा; उसमें से अनेक मनोहर रत्न निकले, पर
वता लोग 'अमृत लिए बिना न मानेंगे' ऐसा दृढ़ निश्चय
र, इसी लगन के साथ अपने काम में चिपटे रहे और
त में उन्होंने अमृत निकाल ही लिया।

अमृत निकलते ही देवताओं और दैत्यों में फिर झगड़ा
रू हो गया, वे कहते थे कि हम पिएँ और वे कहते थे कि
म पिएँ। इतने में भगवान् मोहिनी रूप धरकर वहाँ आए।
त्य उनके वश में हो गए और यह ठहरी कि जिसे वे
मृत पिलावें वही पिए। भगवान् ने देवताओं को अमृत
लाया जिससे देवता अमर हो गए।

(१) आपस का वैर छोड़ सब इकट्ठे होकर काम करें तभी
ड़ा काम पूरा होता है, इसलिये विरोधियों के साथ भी ऐसे काम
शामिल होना चाहिए।

(२) काम करने के समय अपनी इज़्ज़त आबरू का घमंड न
रना चाहिए। मैं बड़ा हूँ, इसलिये मेरे हिस्से में ऊँचा काम आना
ाहिए और दूसरे के पास नीचा काम जाना चाहिए—इस ढंग से
ाम की बाँट उचित नहीं।

(३) विद्या, कुल, पराक्रम तो दैत्यों में भी होते हैं, पर जिस-
ा आचार अच्छा हो वही देवता और जिसका आचार बुरा हो
ही दैत्य है।

(४) संसार व्यवहार को खूब हिलाए-डुलाए बिना अमृत नहीं
ालता और नीति की जय नहीं होती।

(५) संसार के व्यवहार में बहुतसी मुसीबतें आती हैं, और
तिम उद्देश्य सिद्ध होने के पहले बीच ही में, अटकानेवाले लालच

भी बहुत पैदा होते हैं। परन्तु किसी भी काम में शुरू की मुसीबतों से डरना न चाहिए। विष के अंत में अमृत—दुःख के अंत में सुख—यह निश्चय है। इससे छोटे छोटे लालचों में फँसना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से मुख्य उद्देश्य की सिद्धि में रुकावट पैदा हो जाती है।

(परन्तु इसकी अपेक्षा, नीतिशास्त्र संबंधी कितनी ही बहुत गंभीर, ऊँचे अधिकारी के योग्य—सत्य बातें इस कथा में हैं और उन्हें विद्यार्थी की योग्यता देखकर, उसी के अनुसार बतलाना चाहिए)

जैसे.—

(क) दूसरों का भला करने की बात ध्यान में रखकर महादेव की तरह दुःखियों के दुःख दूर करना।

(ख) एक ही आत्मा अच्छे और बुरे दोनों तरह के काम करती है, परन्तु भिन्न भिन्न वृत्तियों द्वारा। अच्छे काम शुभ वृत्तियों से और बुरे काम अशुभ वृत्ति से पैदा होते हैं।

(ग) अच्छे बुरे की लड़ाई में, अंत में मनुष्य को परमात्मा की मदद लेनी पड़ती है।

(घ) नीति का आधार अमृतत्व पर है। एक ही जन्म में अच्छे की जीत हो, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। आत्मा अमर है, यह समझे बिना नीति का साम्राज्य सिद्ध नहीं होता।

(ङ) अमृतत्व संसार से बाहर नहीं है, संसार में ही है और उसे संसारसमुद्र का मंथन करके निकालना चाहिए।

(च) जिस आत्मा के आसपास वृत्तियाँ चिपट रही हैं और उनकी खींचा तानी से समुद्रमंथन होता है,

यह धरती रसातल में डूब जाती है—यदि उसे परमात्मा टिका न रक्खे। परमात्मा में से ही सृष्टि हुई है। जब वह अपने अंग का विकास करता है तब सृष्टि, और जब संकोच करता है तब प्रलय, होती है। इसीलिये परमात्मा को कछुए का रूपक दिया गया है।

(छ) मोहिनीस्वरूप संसार दैत्यों को, असत्-पाप को अमर बनायेगा पाप (असत्) ऐसी आशा रखता है। परंतु यह संसार भी वास्तव में परमात्मा का स्वरूप है, और परमात्मा देवताओं को अमर करने की इच्छा करता है, दैत्यों को नहीं। और इसलिये देवताओं को ही अमृत पिलाता है—अगर दैत्य पीना चाहे तो बीच में ही उसका शिर काट डालता है। दैत्यों को थोड़ी देर के लिये चाहे जय मिल जाय, पर अमर तो देवता ही है। "यतो धर्मस्ततो जय ।"
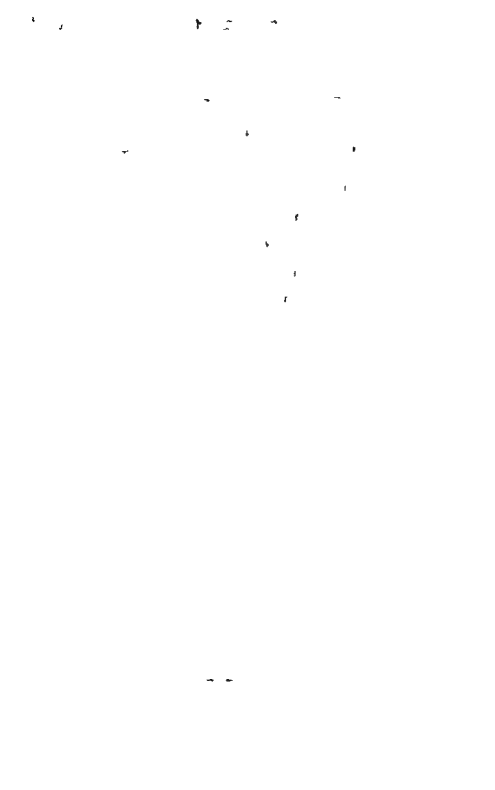
"यतो धर्मस्ततो जयः ।"

अवतरण

बालको,

मैंने तुम्हें नीति का साधारण रूप समझाया। जब कर्तव्य और सुख के बीच में विरोध दीख पड़े, तब सुख को अलग रखकर कर्तव्य करने में ही बहादुरी है, इसी में मनुष्यत्व है। हमारे जीवन में हमेशा ही इस प्रकार कर्तव्य और सुख में विरोध आ पड़ता हो, ऐसा नहीं; बहुत करके कर्तव्य के साथ ही सुख मिला रहता है।

(१) एक तो इस संसार की व्यवस्था ही ऐसी है कि "यतो धर्मस्ततो जय।"—जहाँ धर्म सत्य—न्याय नीति होती है वहाँ जय होती है। दुर्योधन ने पाडवों को वनवास दिया और बड़ा दुःख दिया, पर अंत में दुर्योधन ही मारा गया और जीत पाडवों की ही हुई।

(२) कर्तव्य के साथ मिला हुआ दूसरा सुख परलोक का है। इस जगत् में 'धर्मे जय, पापे क्षय' यह सामान्य नियम देखने में आता है। परंतु कभी कभी धर्मियों पर संकट पड़ता भी देखा जाता है। लेकिन ज़रा गहरी और लंबी नज़र से देखा जाय तो यह अवश्य जान पड़ेगा कि यह अपवाद केवल देखने ही मात्र का है। प्राय: हमारा

संकट हमें कसने के लिये और ज्यादा सुदृढ़ बनाने के लिये होता है। इतना ही नहीं, बहुधा तो पाप-पुण्य का बदला मरते समय तक मिल ही जाता है। तिस पर भी जो कमी इस लोक के न्याय में रह जाती है वह परलोक में पूरी हो जाती है। इसलिये इस जगत् में—इस लोक में नहीं तो परलोक में सही—'जहाँ धर्म वहाँ जय' यह नियम ही सच्चा है।

(३) परन्तु जो सुख कर्तव्य के साथ मिला हुआ है उसे इस लोक या परलोक के कर्तव्य के परिणाम का ही सुख न समझना चाहिए। सत्पुरुषों को कर्तव्य करने में ही एक प्रकार का ऐसा सुख मालूम होता है कि केवल ऊपरी सुख के समझनेवाले लोग जिसे दुःख कहते हैं वह उन्हें पसंद आता है। वे ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु, ऐसा दुःख हमें हमेशा रहे कि जिससे हमें सदा तेरा स्मरण बना रहे। सत्पुरुष इस प्रकार दुःख को सुखरूप में देखते हैं।

१३०—गीदड़ और ऊँट

एक गीदड़ और ऊँट में बड़ी मित्रता थी। एक बार दीवाली के दिनों में नदी के उस पार खेतों में ऊख पकी और हरियाली भी बहुत हुई। यह देखकर दोनों मित्रों का वहाँ जाने का मन हुआ। गीदड़ बोला—"प्रिय मित्र, जो

तू मुझे पीठ पर बैठाकर उस पार ले चले तो हम दोनों उन खेतों में फिरें; तुझे चरने के लिये खूब सामान मिले और मेरी भी गुज़र हो जाय।" ऊँट को यह सलाह पसंद आई और उसने गीदड़ को अपनी पीठ पर बैठाकर उस पार उतार दिया। फिर दोनों अपनी अपनी खूराक खूब खाने लगे। गीदड़ की भूख कम थी, इसलिये वह तो थोड़े में ही अघा गया और आनंद में आकर इधर-उधर दौड़ने और ऊँची आवाज़ से चिल्लाने लगा। ऊँट ने कहा—"भाई, ज़रा रुक, मुझे भी खा लेने दे फिर जितना चाहे चिल्लाया कीजियो।" लेकिन गीदड़ तो अपने सुख में ऐसा मस्त हो रहा था कि उसे इस बात की परवा ही न हुई कि उसके काम से किसी को नुक़सान पहुँचेगा या नहीं। वह ऊँट से बोला—"भाई, मुझे तो खाकर गाने की आदत है, इसलिये मुझसे गाए बिना नहीं रहा जाता।" गीदड़ की आवाज सुनकर खेत का मालिक लठ लेकर दौड़ा। गीदड़ तो ऊख के झुरमुट में छिप गया, लेकिन ऊँट फौरन ही उसको नज़र पड़ गया। खेतवाले ने उसे अच्छी तरह मार-कर बाहर कर दिया। गीदड़ ने देखा कि मेरा भी यही हाल होगा, इसलिये वह गिड़गिड़ाकर ऊँट से कहने लगा—"भाई, यह खेतवाला तो बड़ा बुरा है, अब तो यही ठीक होगा कि हम लोग उसी पार चले जायँ।" ऊँट बोला—"अच्छा, मेरी पीठ पर बैठ जा।" गीदड़ ऊँट के ऊपर बैठ

गया। नदी के बीच में पहुँचकर ऊँट ने पीठ झुकानी शुरू की। यह देख गीदड़ घबड़ाया और कहने लगा—"ऊँट भाई, यह क्या करते हो? मैं गिरता हूँ। अरे गिरा, गिरा!" ऊँट ने जवाब दिया—"भाई, मेरा दोष नहीं। जैसे तुझे खाकर गाने की आदत है वैसे ही मुझे लोट लगाने की आदत है।" ऐसा कहकर ऊँट पानी में बैठ गया और लोटने लगा। उसके बैठते ही गीदड़ पीठ पर से पानी में जा पड़ा।

जो मनुष्य स्वार्थ देखता है और इसका विचार नहीं करता कि मेरे काम से दूसरे का क्या नुक़सान होगा, उसकी यही दशा होती है।

(१) जो हमारा हक़ है, वह दूसरे का भी है।

(२) जो अपने को अच्छा लगे वही कर डालना ठीक नहीं, यह देख लेना चाहिए कि अपने काम से किसी दूसरे का नुक़सान तो नहीं होगा।

(३) शिक्षक को ऊपर की कथा में से यह भी समझाना चाहिए कि पड़ोसियों के साथ कैसा बर्ताव होना चाहिए।

१३१—लोभी ब्राह्मण

पहले श्रावस्तिनगरी में एक ब्राह्मण रहता था। उसे तलवार परखना अच्छा आता था। वह कोशल-देश के राजा के पास गया और उनसे अपने हुनर का ज़िक्र

किया। राजा ने उसका पेटिया बाँधकर उसे तलवार परखने के काम पर नियत कर दिया। लुहार जो अच्छी से अच्छी तलवार बनाकर लाते, उन्हें जब यह ब्राह्मण पसंद कर लेता तभी वे मोल ली जातीं और शस्त्रालय में रक्खी जातीं। ऐसी ही राजा की आज्ञा थी। उस ठग ब्राह्मण ने यह देखकर कि रुपया पैदा करने की यह अच्छी युक्ति है यह ढोंग फैलाया कि मैं सूँघकर ही अच्छी-बुरी तलवार परख सकता हूँ। इस प्रकार वह हरएक तलवार को नाक के सामने करता और जिस लुहार ने रिशवत दी होती उसी की तलवार पसंद कर देता। इस तरह इस रिशवत-खोर ब्राह्मण ने बहुत धन कमाया।

एक दिन उसने एक लुहार की बड़ी अच्छी तलवार नापसंद की। इस पर लुहार ने सोचा—'यह दुष्ट ब्राह्मण मेरी सब तलवारें बुरी बतला देता है और जो उसे रिशवत देता है उसी की तलवार ख़रिदवाता है। अच्छी बात है! इसकी यह आदत छुड़ा दूँ तभी मेरा भी नाम।' ऐसा विचार कर उसने एक म्यान में महीन पिसी हुई मिरचें भर दीं और एक तलवार के फल पर भी लगा दीं और उस तलवार को म्यान में रखकर बाहर से ठीकठाक करके राजा के यहाँ ले गया। राजा के सामने उसने तलवार पेश की। राजा ने दरबार में बैठे हुए ब्राह्मण कर्मचारी को तलवार परखने की आज्ञा दी। ब्राह्मण ने, अपनी सदा की ढोंगी

आदत के अनुसार तलवार म्यान में से ज़रा बाहर निकालकर नाक के सामने की । फौरन उसकी नाक में मिर्चें उड़कर गई और उसे ऐसी भारी छींक आई कि मुंह हटाते हुए नाक उसी तलवार की धार में रगड़ गई और उसका सिरा कटकर अलग जा पड़ा ।

राजा और सब दरबारी यह देखकर खूब हँसे । वह लोभी ब्राह्मण उम्रभर रियायत खा खाकर मतवाला हो गया था । उसे उसके पाप की सज़ा खूब मिली ।

१३२—'कंकोल में कीड़े पड़े'

खंभात में आदमजी नाम का एक वोहरा बड़ा भारी व्यापारी था । वह परदेश से बहुतसा माल मँगाकर बेचता था और बाहर के व्यापारी जो बहुतसा माल यहाँ बेचने वाले थे उसे भी अपनी आढ़त में बेच देता था । इसलिये उसकी देश परदेश में खूब साख बँध गई थी और बड़े बड़े व्यापारी उसी की मारफत बेचने के लिये माल लाने लगे थे । एक बार देशावर से एक व्यापारी कंकोल, लोहा और साबुन बेचने के लिये आया । आदमजी ने उसका बड़ा आदर सत्कार किया और उसके लाए हुए माल को फायदे से बिकवा देने का विश्वास दिलाया । उसने शहरभर के व्यापारियों को जमा करके माल दिखलाया, परंतु उसके

भाव पर वे राज़ी न हुए। व्यापारी जिस भाव माँगते थे उस भाव देने में बड़ा नुक़सान होता था, इसलिये उसने उसे नहीं बेचा। आख़िर वह व्यापारी आदमजी को सारा माल दे गया और कह गया कि जब भाव अच्छा दीखे तब बेच देना।

कितने ही महीने पीछे कंकोल, लोहे और साबुन का भाव चढ़ा। तब आदमजी ने उस व्यापारी का सब माल बेच दिया और रुपए वसूल करके इस ख़याल से घर में रख लिए कि व्यापारी आवेगा तब दे दूँगा।

वह व्यापारी, कितनी ही अड़चनों के कारण कई साल तक अपने माल की ख़बर लेने न आ सका। इधर आदमजी की नीयत बिगड़नी शुरू हुई। उसके जी में यह ख़याल आया कि माल के मालिक ने इतने दिन हो जाने पर भी कोई ख़बर नहीं ली है, शायद वह मर गया हो। यह सोचकर उसने उसके माल का रुपया धीरे धीरे अपने ख़र्च में लाना शुरू कर दिया। बहुत दिनों तक व्यापारी रुपए लेने नहीं आया, तब तो मुल्लाजी ने रुपयों को हड़प जाना ही निश्चय किया। उन्होंने सोच लिया कि कुछ लिखापढ़ी तो है ही नहीं, रक़म को साफ हजम करना चाहिए। कई वर्ष बाद यह सोचकर कि मुल्लाजी ने माल बेच दिया होगा, वह व्यापारी खंभात आया और आदमजी को सलाम करके बोला—"सेठ साहब, मैं तुम्हारे पास जो

माल बेचने के लिये रख गया था वह अब तक तो बिक गया होगा ?"

आदमजी—अरे सेठ, तुमने भी खूब किया ! मुझे बड़ा अफसोस है कि तुम फौरन् न आ गए, और न हमें तुम्हारे बुलाने की याद रही। फिर अब क्या कहूँ ? मैं बहुत ही लाचार हूँ कि—

व्यापारी—हैं ! हैं ! मुल्लाजी, इसमें लाचारी की क्या बात है ?

आदमजी—(ज़रा झूठमूठ को हँसकर) क्यों नहीं ? लाचारी से ऐसा हो गया हो तो तुम्हारे सामने आरज़ू करनी चाहिए कि नहीं ?

व्यापारी—तुम साहूकार होकर 'लाचार हूँ' ऐसे शब्द मुँह से निकालते हो, इससे मेरे दिल में तो कुछ और ही खयाल आता है। क्यों लाचार हो, यह तो बतलाओ ? क्या खरीदार ने माल लेकर रुपया नहीं दिया ?

आदमजी—नहीं, नहीं, कहीं ऐसा हो सकता है ? हम तो ऐसे हैं कि जूते मारकर रुपए वसूल कर लें।

व्यापारी—तो क्या माल कम दामों में बेच दिया है जो लाचारी दिखाते हो ?

आदमजी—नहीं, ऐसा नहीं, ऐसी बात के लिये क्यों लाचारी दिखलाते ? जो बाजारभाव होता है उसी से बेचा जाता है।

व्यापारी—(बहुत घबराकर) अरे मुल्लाजी, तो फिर लाचारी क्यों दिखला रहे हो? मेरी समझ में नहीं आता। जल्दी से बतलाओ, मेरे तो होश उड़ रहे हैं।

मुल्लाजी—सो तो सब ठीक है, लेकिन खुदा की मर्ज़ी के सामने आदमी की क्या चलती है!! कोठे में बहुत से चूहे हो गए और तुम्हारा लोहा खा गए। कंकोल में कीड़े पड़ गए और साबुन सड़ गया। उनके फिंकवाने में हमारा खर्च पड़ा, लेकिन तुम्हारा नुक़सान देखकर, उसे माँगते शर्म आती है। व्यापारी यह सुनकर भौचक रह गया और उसका चेहरा फ़ीका पड़ गया। वह लंबी साँस भरकर सोचने लगा कि जैसा यह बोहरा कहता है क्या वैसा होना संभव है? ऐसा मालूम पड़ता है कि मुल्लाजी की नीयत ख़राब हो गई है। यह ज़रूर माल बेचकर रुपया पा गया है। अब खाया हुआ रुपया टेंट में से निकालना पड़ता है, इससे ऐसा जवाब देता है। परंतु अब इस बात को बढ़ाने से क्या नतीजा? किसी युक्ति से इससे रुपया निकलवा लूँ, तभी मेरा भी नाम। यह सोचकर वह मुल्लाजी से बोला—"ठीक है, जैसा आप कहते हैं वैसा ही हुआ होगा, मेरी क़िस्मत! आप क्या कर सकते हैं? अब मुझे आज्ञा हो।" आदमजी ने कहा—"अच्छी बात है। और माल लाए हो तो कहना। अब की बार फ़ौरन बेच दूँगा।"

चालाक व्यापारी ने आदमजी से कुछ दूर एक मकान किराए पर ले लिया और उसमें रहने लगा। वह रात-दिन सोचा करता कि अपने रुपए आदमजी से कैसे वसूल करूँ। एक दिन आदमजी की हुरबाई नाम की तीन वर्ष की लड़की दूसरे लड़कों के साथ खेलती खेलती व्यापारी के मकान के सामने आई। पूछने से मालूम हो गया कि यह आदमजी की लड़की है। बड़ी तरकीब से लड़की को खाने का लालच देकर उसने उसे अपने घर में बुला लिया। जब लड़की शाम तक घर न लौटी तो घर के सब आदमी उसे तलाश करने निकले। शहर में बहुत जगह तलाश की पर पता न लगा। ढूँढते ढूँढते आदमजी उस व्यापारी के घर के सामने आए। वहाँ आकर व्यापारी से पूछा—"सेठ, तुमने मेरी हुरबाई को देखा है?" व्यापारी ने कहा—"हाँ, मैंने एक बड़े बगले को तुम्हारी लड़की को चोंच में दबाकर ले जाते देखा है।" मुल्लाजी बोले—"सेठ, दिल्लगी क्यों करते हो? ऐसा भी कहीं होता है?" व्यापारी ने कहा—"मैंने अपनी आँख से देखा है।"

यह सुनकर मुल्लाजी समझ गए कि जरूर इस व्यापारी ने ही लड़की को छिपाया है, पर बिना अदालत में नालिश किए यह लड़की देनेवाला नहीं। इसलिये वह न्यायाधीश के पास गए और नालिश कर दी। न्यायाधीश ने व्यापारी को बुलाकर पूछा—

"तुमने आदमजी मुद्दई की लड़की को देखा है? अगर देखा है तो वह कहाँ है?"

व्यापारी—हाँ साहब, उसे एक बगला चोंच में दबाकर आसमान में उड़ गया, यह मैंने अपनी आँख से देखा है।

न्यायाधीश—(ज़रा हँसकर) ऐसा होना क़तई नामुमकिन है।

व्यापारी—अरे साहब, मेरे और आदमजी के बीच तो ऐसी ही बातें हुआ करती हैं जो दुनिया में हो नहीं सकतीं। आदमजी से पूछ देखिए कि इनके यहाँ मैं लोहा, कंकोल, और साबुन रख गया था, उसमें से लोहे को चूहे खा गए, कंकोल में कीड़े पड़ गए और साबुन सड़ गया। पूछिए ऐसा हुआ कि नहीं? जो ऐसा हो सका तो बगले का छुरवाई को ले जाना भी झूठ नहीं हो सकता।

न्यायाधीश—(समझकर) क्यों आदमजी, व्यापारी ठीक कहता है?

आदमजी—हाँ, ऐसा तो ज़रूर हुआ था, लेकिन यह बात समझ में नहीं आती कि लड़की को बगला कैसे ले गया।

न्यायाधीश ने यों फैसला सुनाया—आदमजी ने व्यापारी का माल बेईमानी से उड़ा लिया है, इसलिये

उसने अपने माल की क़ीमत वसूल करने को यह तरकीब निकाली है। हुक्म होता है कि आदमजी इस व्यापारी के रुपए दे और व्यापारी आदमजी को उनकी हुरवाई माल नाम की लड़की वापस करे।

बोहरा झेंपकर चला गया। *

(१) अगर कोई हमारे साथ दगा करे तो उसके साथ भी दग़ा करना अच्छा नहीं। क़ानून को अपने हाथ ही में नहीं लेना चाहिए। यह सत्ता (ताक़त) तो न्यायाधीश को ही होनी चाहिए।

(२) लेकिन दुनिया के व्यवहार में इतना याद रखना चाहिए कि हम अगर किसी के साथ दग़ा करेंगे तो वह भी हमारे साथ करेगा। यह स्वाभाविक है और दग़ा करनेवाले का मुँह शिकायत करने के लिये बंद है।

(३) पाठ पढ़ने के दिन ही शिक्षक को ऊपर की बात का उपदेश न बतलाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से हास्य रस का असर जाता रहेगा। दूसरे दिन इस विषय पर विद्यार्थियों से गम्भीरता के साथ विचार कराना चाहिए जिससे 'शठे शाठ्य'वाला अनिष्टकारी उपदेश बालकों के मन में न समा जाय, और यह बात भी उनकी समझ में आ जाय कि संसार की रचना ऐसी है कि यहाँ शठ को शठ ही द्वारा सज़ा मिल जाती है।

१२३—जैसी नीयत वैसी बरकत

एक ग्वालिन पास के बड़े शहर में जाकर रोज सुबह-शाम दूध बेच आती। पहले तो उसने अच्छा दूध बेचा

* ऐसी एक कहानी 'कथा सरित्सागर' में भी है।

जिससे उसकी खूब साख बँध गई और बहुतसे ग्राहक हो गए। मगर एक दिन उसकी नीयत बिगड़ी। शहर के रास्ते में बीच में एक छोटी नदी पड़ती थी; वहाँ से उसने थोड़ा पानी दूध में मिला लिया और शहर में पानी मिला हुआ दूध बेच डाला। टोकनी में पैसे डालकर वह अपने गाँव की ओर चली। शहर से बाहर नदी किनारे आकर पैसे बाहर निकाल उसने किनारे पर रक्खे और दूध का बर्तन धोने लगी। इतने में एक चील आई और पैसों को अपनी खूराक समझकर उन पर झपट्टा मारा। उनमें से कुछ पैसे चोंच में आ गए, जिन्हें लेकर चील ऊँची चढ़ी, पर वे उसकी खूराक न थे, इसलिये चोंच उसने खोल दी और पैसे गिरा दिए। पैसे पानी में गिर पड़े।

ग्वालिन बहुत रोई-चिल्लाई। इतने में उसकी एक साथिन, जिसने उसे पानी मिलाते देखा था, आई और कहने लगी—"बहन, वृथा क्यों भीखती है ? यह तो 'दूध के दूध और पानी के पानी' हो गए।" दगाबाज़ ग्वालिन चुप हुई और बाक़ी के पैसे गिनकर देखे तो वे असली दूध की क़ीमत के बराबर हुए और पानी मिलाने से जो पैसे ज्यादा आए थे वे सब पानी में गए।

(१) जैसी नीयत वैसी बरकत—जैसा करोगे वैसा पाओगे।
(२) ककोल में कौवेवाली और यह कथा मिलाओ। दुनिया

में ऐसा ही होता है कि ठग को ठग मिलता है और इस तरह सीधा हो जाता है। यह पहली कथा का मतलब था। जगत पाप-पुण्य के बदले के बारे में कितने ही गूढ़ नियम जारी हैं, जि कभी कभी ऐसा हो जाता है कि पापी को सज़ा मिल जाती है देखो, चील ने कुछ जान बूझकर ग्वालिन को उसकी बदमाशी का बदला देने की नहीं ठानी थी, बल्कि यकायक एक संयोग आ गया और उससे उसे सज़ा मिल गई। इसे हम ख़ास ईश्वर के घर का न्याय कहेंगे। यह भी याद रखना चाहिए कि पाप की सज़ा मिलने के बहुत तरीक़े हैं, किस वक़्त, कहा से सज़ा मिलेगी, यह हम नहीं जानते। इसलिये सदा सत्य और न्याय के निर्भय मार्ग पर ही चलना चाहिए।

१३४—धर्म-बुद्धि और पाप-बुद्धि

एक गाँव में धर्म-बुद्धि और पाप-बुद्धि नाम के दो भाई
रहते थे। पाप-बुद्धि ने विचार किया कि 'पास कौड़ी नहीं,
इसलिये कुछ कमाने की तदबीर की जाय तो काम चले।
ने बुरे चालचलन से मैंने अपनी इज़्ज़त खो दी है और
या में नाम धराया है। इसलिये इस गाँव में कोई
रुपया उधार नहीं देगा। परन्तु बिना व्यापार के
रुपया नहीं और बिना उधार के व्यापार नहीं होता।
इससे अगर कोई मुझे रुपया उधार दे तो व्यापार करूँ।
देश चला जाऊँ, पर मेरे साथ मेरा भाई भी चले तो
क हो, क्योंकि उसकी इज़्ज़त देश-परदेश में बनी है

और उसकी मदद से मैं अच्छा व्यापार कर सकूँगा। ऐसा सोचकर उसने अपने भाई को समझाया कि देशाटन से कैसे कैसे लाभ होते हैं और दोनों परदेश के लिये रवाना हुए। धर्म-बुद्धि का नाम वहाँ सब जानते थे और उसके यहाँ लोग लाखों रुपया जमा करते थे। लेकिन धर्म-बुद्धि को जब उन्होंने आँख से देखा और उसके साथ काम पड़ने लगा तब उसकी भलमनसाहत और सच्चा व्यवहार देखकर बिलकुल ही संतुष्ट हो गए, और धर्म-बुद्धि का व्यापार पहले से दुगुना चलने लगा। पाप-बुद्धि ने भी धर्म-बुद्धि के नाम से धंधा करके कमाया और कुछ दिन पीछे दोनों भाई अच्छा माल पैदा करके अपनी जन्मभूमि की ओर रवाना हुए। जब गाँव पास आ गया तब पाप-बुद्धि ने धर्म-बुद्धि से कहा—"भाई, अपना रुपया इस पेड़ के नीचे गाड़ दिया जाय तो अच्छा हो, नहीं तो हमारे संगी-साथी और भिखारी हमारी जान खा जायँगे।" धर्म-बुद्धि को यह बात पसंद नहीं आई, क्योंकि उसे तो अपने रुपए को परोपकार में लगाने की इच्छा थी। पर पाप-बुद्धि ने कहा—"जो तू अपना हिस्सा अपने पास रक्खेगा तो लोग जान जायँगे कि मैंने भी कमाया है और इसलिये मेरा धन तका करेंगे, मेरी खातिर यह धन यहीं रहने दो, दो-चार दिन पीछे हम दोनों साथ आकर निकाल लेंगे।"

लेनी चाहिए । ऐसा करने से सीधापन और हिम्मत आती है। इस बात को ध्यान में रख शिक्षक को चाहिए कि बालकों में छोटी अवस्था से ही ये गुण पैदा करे लेकिन धृष्टता—बेशर्मी न पैदा हो जाय, इतनी फ़िक्र रखनी चाहिए।

१३६—अजामिल

अथवा

पश्चात्ताप और नया जीवन

पहले कान्यकुब्ज नाम के शहर में अजामिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। छोटी उम्र में वह सदाचारी, गुणवान् और पवित्र था, पर बड़ा होकर वह बुरी सोहबत में पड़ गया और चोरी, जुआ आदि नीच काम करने लगा। इस तरह पापमय जीवन व्यतीत करके वह बुड्ढा हुआ। इतना ज्यादा समय निकल गया मगर उसे इसकी ज़रा भी ख़बर न हुई। उस बुड्ढे के दस लड़के थे। उनमें छोटे का नाम नारायण था। उस पर उसे बड़ा प्रेम था। खाते वक़्त उसे साथ खिलाता, पानी पीते समय उसे पानी पिलाता, और हिंडोले में सुलाता और झुलाता था। परन्तु क्षणभर के लिये भी वह परमेश्वर का स्मरण वा परलोक का विचार न करता था। इस प्रकार पापमय व्यवहार करता करता एक बार वह बीमार पड़ा और मरने की घबराहट में अपने

छोटे लड़के की याद कर 'नारायण', 'नारायण' कहकर चिल्ला उठा।

ईश्वर का नाम स्मरण करते ही उसकी आत्मा ने नया जीवन धारण किया, उसके छुटपन के शुभ संस्कार जागृत हो गए और एकदम पाप का पश्चात्ताप हुआ कि 'हा शोक ! मैंने इतने दिनों क्या किया ? मैं कुलागार निकला ! बुरी सोहबत में पड़कर मैंने अनगिनती पाप किए—बहुतों को ठगा, बहुतों को दु:ख दिया, घर में अनाथ माँ बाप को भी मुझ कृतघ्न ने छोड़ दिया ! ऐसे पश्चात्ताप करते करते उसका अंतःकरण बदल गया और उसने निश्चय किया कि होना था सो तो हो गया, पर अब से मै ईश्वर के मार्ग पर चलूँगा और अपनी आत्मा को डूबने नहीं दूँगा। अंत में अजामिल बीमारी से उठा, मानो उसका नया जन्म हुआ, परंतु इससे कहीं ज्यादा कायापलट उसकी आत्मा की हुई। वह सदाचारी हो गया और भगवान् का भजन कर उसने मोक्ष पाई।

(१) बुरी सोहबत से अच्छा मनुष्य भी बिगड़ जाता है, शिक्षित मनुष्य भी झूठ, चोरी, जुआ, व्यसन आदि मार्गों में पड़ जाता है। इसलिये बिगड़े हुए आदमी की छाया से भी दूर रहना चाहिए।

(२) पाप का समय निकल जाता है, उसकी खबर तक नहीं पड़ती। मनुष्यजन्म का बहुमूल्य समय हम खो बैठते हैं।

(३) मनुष्य-जन्म इसलिये नहीं है कि मौज उड़ाया जाय, या चाहे जिस प्रकार न्याय से या अन्याय से कुटुंब का पोषण किया जाय, या बालकों का लाड़ किया जाय। हरएक मनुष्य को परलोक का विचार करना चाहिए तथा ईश्वर की याद रखनी चाहिए।

(४) लड़के के नाम से ईश्वर को धोखा नहीं हुआ। पूरे पूरे स्मरण की बात तो दूर रही, भूल से भी नाम लेने से ईश्वर तार देता है—इस प्रकार ईश्वर की करुणामयता दिखलाने के लिये ही यहाँ उसके नाम की महिमा का वर्णन किया गया है। पर साथ ही साथ यह बात याद रखनी चाहिए कि यहाँ यह नहीं बतलाया गया है कि अजामिल ने भूल से ईश्वर का नाम लिया और इसी से उसे मोक्ष मिल गया, बल्कि नाम स्मरण और मोक्ष के बीच में उग्र पश्चात्ताप रक्खा गया है। इस प्रकार यदि सच पूछा जाय तो यह पश्चात्ताप का ही प्रकरण है, इस बात को निगाह में रखना चाहिए।

(५) मृत्यु की विकट घाटी आने पर अजामिल के छुटपन के सस्कार फिर जाग्रत् होते हैं। शिक्षा और सदाचार के सस्कार कभी जड़ से नहीं मिट जाते, बुरी सोहबत से ये दब जाते हैं, लेकिन ईश्वर की कृपा हो तो किसी समय फिर हरे भरे हो जाते हैं। इसलिये जैसे हो वैसे आत्मा पर शुभ सस्कार ही पड़ने देने चाहिएँ।

(६) बुरी सोहबत से कितना नुकसान होता है यह हमने देखा, पर यह न समझना चाहिए कि बुरी सोहबत में एक बार पड़कर मनुष्य फिर सुधर ही नहीं सकता। इसी से यह कर्तव्य हो जाता है कि बुरी सोहबत छोड़ी जाय।

(७) तीव्र पश्चात्ताप से जीवन कैसे सुधर जाता है इसकी मिसालें 'जेम्स वेरायटीज़ ऑफ़ रिलीजस एक्सपीरियंस' जैसे ग्रंथ में देखनी चाहिएँ।

(८) "जो मनुष्य पाप करके पछताता नहीं, उसमें पाप ऐसे भरते हैं जैसे समुद्र में नदियाँ। जब पाप इस तरह घर कर लेता है तब उसे दूर करना पहले की अपेक्षा कठिन हो जाता है। पापी मनुष्य अपने पाप को समझकर छोड़ दे और नीति पर चले तो दिन पर दिन उसका पाप घटता जायगा और अत में नाश हो जायगा—और इस प्रकार वह बुद्ध (पूर्ण ज्ञानी) हो जायगा।"

१४०—ईश्वर के यहाँ सच्चा न्याय होता है

एक बड़ी उपदेशपूर्ण यूनानी कहानी है कि क्रॉनस (काल भगवान्) ने अपना राज्य ज्यूस (देवराज इंद्र), पासिडन (वरुण) और प्लूटो (यम) को बाँट दिया। क्रॉनस के समय में, मनुष्य मनुष्य का—मृत्यु के दिन—सदेह न्याय करता था। पर यह न्याय ठीक नहीं होता था और स्वर्ग के अधिकारी नरक और नरक के अधिकारी स्वर्ग में चले जाते थे। ऐसी शिकायत प्लूटो ने ज्यूस देव से की और कहा कि बहुतसे ऐसे जीवों की जिनकी आत्मा तो दुष्ट है, पर शरीर सुंदर, कुल ऊँचा और जिनके पास रुपया बहुत है, झूठी गवाही देने के लिये बहुत आदमी आ जाते हैं जो, चाहे उन जीवों ने पाप में ही जीवन काटा हो, यही कहते हैं कि वे पुण्यशाली थे। इससे न्यायाधीश धोखे में पड़ जाते हैं, और चूँकि वे भी सदेह न्याय करने बैठते हैं इसलिये ठीक तरह से वे कुछ देख नहीं सकते।

प्लूटो की यह बात ज्यूस को ठीक मालूम हुई और उसने रिवाज बदलकर यह तय किया कि हरएक जीव का न्याय उसकी मृत्यु के बाद विदेह अवस्था में करना चाहिए और उस समय उसके न्यायाधीशों को भी विदेह होना चाहिए। ऐसा करने से न्याय ठीक ठीक होने लगा।

(१) इस कहानी का मतलब यह है कि जीवित दशा मनुष्य मनुष्य का ठीक न्याय नहीं कर सकता। मनुष्य का लौकिक न्याय ठीक नहीं है। सच्चा न्याय तो मरेपीछे की अवस्था में ही परलोक में होता है। ऐसा न्याय होने से वही होता है जो जीसस क्राइस्ट ने कहा है कि 'बहुतसे आगेवाले पीछे और पीछे-वाले आगे हो जायँगे।'

(२) जीव के बाहरी दिखावे और हालत से जो न्याय किया जाय वह ठीक नहीं। जो न्याय बाहरी दिखावे को भेदकर अंतर में पहुँचकर—अंतर को तलाशकर—किया जाय वही ठीक न्याय है, अर्थात् शरीर शरीर का न्याय करे वह नहीं, बल्कि आत्मा आत्मा का न्याय करे वही यथार्थ न्याय है।

(३) इसलिये जीवन में हमारे साथ अन्याय भी हो तो भी हमें नीति के मार्ग से न हटना चाहिए। हमारा सच्चा न्याय करनेवाला ईश्वर है और वही हमारा असली अंतर देखता है।

१४१—पांडवों का स्वर्गारोहण

[१]

महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया। कौरव मारे गए और युधिष्ठिर को राज्य मिला, पर सगे रिश्तेदारों के

संहार से पाया हुआ राज्य भोगना उन्हें पसंद न हुआ। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया पर उससे भी चित्त को शांति न मिली। आख़िर अपने पीछे के लिये राज्य का इंतज़ाम कर, राज पाट छोड़कर, पाँचों पांडव, छठी द्रौपदी और सातवाँ युधिष्ठिर का एक नमकहलाल कुत्ता, सब के सब हिमालय में रहने गए। वे हिमालय की घाटियाँ और शिखर पार करते चले जाते थे। इस बीच में द्रौपदी और युधिष्ठिर के चार भाई एक के बाद एक, मर गए। पहले द्रौपदी गई। यह देखकर भीम ने युधिष्ठिर से पूछा—"महाराज, यह द्रौपदी कभी अधर्म-मार्ग पर नहीं चली, इसे यह क्या हो गया?" युधिष्ठिर ने जवाब दिया—"इसमें केवल एक दोष था, वह यह कि पाँचों पांडवों की पत्नी होकर वैसे तो यह सभी पर प्रीति रखती थी, मगर इसे अर्जुन का कुछ ज्यादा पक्ष था। उसका फल इसे आज भोगना पड़ा।" कुछ दूर जाने पर सहदेव गया। यह देख भीम ने युधिष्ठिर से पूछा—"महाराज, सहदेव हमेशा आपकी सेवा में तत्पर रहता था, इसे यह क्या हुआ?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"यह हमेशा यही सोचता था कि मेरे जैसा कोई बुद्धिमान नहीं है। आज इसने उसी अभिमान का फल पाया।" और कुछ दूर चलकर नकुल गिरा। यह देख भीम ने युधिष्ठिर से पूछा—"महाराज, नकुल ने कभी आपकी आज्ञा भंग नहीं की,

यह क्या हुआ ?" युधिष्ठिर ने जवाब दिया—"नकुल सदा यह ख्याल करता कि मेरे समान रूपवाला कोई नहीं है, इस अभिमान का फल उसने आज भोगा।" कुछ और दूर चलकर अर्जुन गिरा। यह देख भीम ने युधिष्ठिर से पूछा—"महाराज, अर्जुन के मुख से कभी असत्य वचन नहीं निकला था, इसे यह क्या हो गया ?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"अर्जुन को यह मिथ्याभिमान था कि मैं सब शत्रुओं को एक दिन में जलाकर खाक में मिला सकता हूँ उसी का यह फल है।" अंत में कुछ दूर जाकर भीम खुद पृथ्वी पर गिर पड़ा और मरते मरते युधिष्ठिर से बोला—"महाराज, मेरा क्या दोष था जो मैं गिरा ?" युधिष्ठिर ने कहा—"भीम, तुझे अपने असाधारण बल का अभिमान था, उसी का यह फल है।"

[२]

इस प्रकार एक एक करके द्रौपदी और चार पाडव मर गए।

उधर इन्द्र अपना रथ लेकर युधिष्ठिर के सामने आकर खड़ा हो गया और बोला—"हे राजा, तू इस रथ में बैठ, मैं तुझे स्वर्ग में ले चलने को आया हूँ।" युधिष्ठिर ने कहा—"हे देवराज, अपनी पत्नी और अपने भाइयों को लिए बिना मैं स्वर्ग में न जाऊँगा।" इंद्र ने कहा—"राजा, वे तो कभी के स्वर्ग में पहुँच गए, इसलिये अब

तू चल।" युधिष्ठिर ने कहा—"इस कुत्ते को साथ लेने दो।" इंद्र ने हँसकर कहा—"अपनी स्त्री और अपने भाइयों को तूने छोड़ दिया तो फिर ऐसे छोटे जीव की इतनी परवा क्यों करता है?" युधिष्ठिर ने जवाब दिया—"स्त्री और भाइयों को जीता हुआ मैंने नहीं छोड़ा, वे मरकर जुदे हो गए, इसमें मेरा क्या वश है? यह कुत्ता वनवास में भी बड़ी भक्ति से हमारे साथ रहा था, इसका त्याग मैं कैसे करूँ? भक्त का त्याग करने से बढ़कर कोई दूसरा पाप नहीं है।" इंद्र ने प्रसन्न होकर कुत्ते के साथ युधिष्ठिर को रथ में बैठाया और दोनों को स्वर्ग में ले गया।

[२]

युधिष्ठिर ने स्वर्ग में पहले तो दुर्योधन को अनेक प्रकार के सुख भोगते हुए देखा। यह देख उसे आश्चर्य हुआ। पास ही नारदजी थे। उनसे उसने कहा—"ऋषिजी, यह कैसा अन्याय है? दुर्योधनजैसा दुष्ट यहाँ मौजूद है और मेरे भाई नहीं!" नारदजी ने उत्तर दिया—"युधिष्ठिर, दुर्योधन के लिये जो तुझे घृणा है उसे अब छोड़ दे। स्वर्ग में किसी तरह के वैर को जगह नहीं। जो विशेष पापी होता है उसे पहले स्वर्ग और फिर नरक, और जो विशेष पुण्यशाली होता है उसे पहले नरक और फिर स्वर्ग मिलता है।" फिर युधिष्ठिर को अपने भाइयों से मिलने

की इच्छा हुई तो उसे एक दूत के साथ नरक में भेज
गया। वहाँ उसे कष्ट भोगते हुए अनगिनती जीवे
की दिल दहलानेवाली चीखें सुनाई देती थीं और चारों
तरफ से रुधिर मास वगैरह की बदबू आ रही थी
युधिष्ठिर से यह बदबू न सही गई और उसने पीछे
लौटने का इरादा किया कि इतने ही में वहाँ बहुतसे
दुखी जीव करुणाजनक आवाज से कहने लगे—"हे पुण्य-
शाली महाराज, कृपा कर कुछ देर ठहरो। तुम्हारे देह की
ऐसी ठंडी हवा हम पर चलती है कि उससे हमारे दुःख
सहने के लायक हो जाते हैं।" परोपकारी युधिष्ठिर फौरन्
वहाँ ठहर गया और बोला—"तुम कौन हो?" चारों तरफ
से जवाब आने लगे। एक बोला—"मैं भीम हूँ", एक बोला—
"मैं अर्जुन हूँ", वगैरह। इतने में इंद्रादि देवता आए और
नरक बदलकर स्वर्ग हो गया! उन्होंने युधिष्ठिर को
दिलासा देकर कहा—"राजा, सब राजाओं से कोई न कोई
तो पाप होता ही है और इसलिये उन्हें नरक देखना ही
पड़ता है। तुम्हें यह भोगना था सो भोग चुके। द्रोपदी
और तुम्हारे भाई सब स्वर्ग में हैं। लेकिन जिस वक्त
अश्वत्थामा नाम का हाथी मरा था उस वक्त 'अश्वत्थामा
मारा गया' यह कहकर तुमने द्रोण के मन में शक पैदा
कर दिया था, इसी से आज तुम्हें भी नरक देखना पड़ा।"-
यह कहकर उन्होंने हरिश्चंद्र, मांधाता आदि महान्

राजाओं को जो स्वर्ग दिया था वही स्वर्ग युधिष्ठिर को दिया।

(१) महान् आत्माओं को वह सुख भोगना अच्छा नहीं लगता जो दूसरों को हानि पहुँचाने से मिले—चाहे वह उनका हक़ ही क्यों न हो।

(२) पक्षपात, बुद्धि, रूप, पराक्रम और बल का अभिमान—ये सब बुरे हैं और उनका परिणाम भी बुरा होता है।

(३) सत्पुरुष अपने सुख में अपने आश्रित को शामिल करते हैं और उसे कभी छोड़ते नहीं। जो अपने दुःख में दुखी हो उसे अपने सुख में सुखी करना वे अपना धर्म समझते हैं।

(४) स्वर्ग में वैर भूल जाना चाहिए। ऊँचा हृदय, जो हमेशा स्वर्गरूप है, वैर को अपने में रहने नहीं देता।

(५) दुःख के अंत में सुख अच्छा और सुख के अंत में दुःख बुरा।

(६) परोपकारी पुरुष को नरक में भी परोपकार करने का मौक़ा मिल जाता है। सत्पुरुष के शरीर पर से जो हवा चलती है—अर्थात् उसके साथ थोड़ी देर का सहज समागम—वह भी दुखी के दुःख को शांत करने में उपयोगी होती है।

(७) राजा और अधिकारी—जिन्हें शासन करना पड़ता है—उनसे कभी न कभी पाप हो ही जाता है। वैसे ही हरएक मनुष्य से, जो अपने कार्य-प्रदेश में छोटेसे राजा के समान ही है, व्यवहार में कोई न कोई पाप हो ही जाता है। परंतु इससे डरना न चाहिए। पापी कौन नहीं है? लेकिन जैसे भी हो सके वैसे पाप को दबाना और पुण्य को बढ़ाना हमारा धर्म है। हरएक को पाप की सज़ा भोगनी पड़ती है, परंतु अंत में तो पुण्यशाली मनुष्य को स्वर्ग—कल्याण—ही है।

है।" दूसरे के सुख में दुखी होनेवाले दुर्योधन पर किसी उपदेश का असर होना असंभव था, तो भी पिता का धर्म है कि पुत्र को अच्छी शिक्षा दे और इसलिये उसने उसे प्रह्लाद और इंद्र की एक आख्यायिका सुनाई।

धृतराष्ट्र बोला—"भाई दुर्योधन, मैं नारद की बतलाई हुई प्रह्लाद और इंद्र की एक कथा तुमसे कहता हूँ सो सुन—प्रह्लाद दैत्यकुल में पैदा हुआ था तो भी उसने अपने उच्च शील और ईश्वर में दृढ़ श्रद्धा से स्वर्ग का राज्य पाया था। ऐसे उत्तम गुणों के संपादन किए बिना ऐसी ऊँची पदवी मिलती नहीं, और मिले भी तो बहुत दिन तक नहीं रहती—ऐसा सोचकर इंद्र ने निश्चय किया कि प्रह्लाद के पास शिष्य बनकर रहूँ और उसके गुण सीखूँ। इंद्र ब्राह्मण का वेष धारण कर प्रह्लाद के पास गया और उससे कहा—"महाराज, उत्तम से उत्तम जो ज्ञान हो वह मुझे दीजिए।" प्रह्लाद ने कहा—"अभी मुझे फुरसत नहीं।" इंद्र ने कहा—"जब तक आपको फुरसत न हो तब तक मैं यहीं रहकर आपकी सेवा करता हूँ।" इंद्र प्रह्लाद के यहाँ रहा और उसकी ऐसी सेवा की कि प्रह्लाद प्रसन्न हो गया और बोला—"शिष्य, मैं तेरी सेवा से प्रसन्न हुआ हूँ और तुझे जो माँगना हो वह माँग, तू जो माँगेगा वही मैं दूँगा।" इंद्र ने कहा—"आप अपना शील दीजिए। मुझे कुछ और नहीं चाहिए।" प्रह्लाद को यह सुनकर बड़ा ताज्जुब

हुआ, पर वह वचन का पक्का था, बोला—"अच्छा, ऐसा ही हो।" तुरत ही उसके शरीर में से चद्रमा के प्रकाश के समान सुंदर तेज निकला और मूर्तिमान् होकर खड़ा हुआ। प्रह्लाद ने पूछा—"तू कौन है ?" उस तेज ने उत्तर दिया—"मै आपका शील हूँ, आपने मुझे छोड़ दिया और इंद्र को दे दिया इसलिये मैं अब इंद्र में जाता हूँ।" यह कहकर फौरन् उसने इंद्र में प्रवेश किया। इतने में एक दूसरा तेज प्रह्लाद में से निकला और रूप धरकर खड़ा हो गया। प्रह्लाद ने पूछा—"तू कौन है ?" इस तेज ने जवाब दिया—"मैं धर्म हूँ, जहाँ शील रहता है वहीं मे रहता हूँ, शील जहाँ गया वहीं मैं भी जाता हूँ।" यह कहकर वह भी इंद्र में प्रविष्ट हो गया। इसके बाद इसी तरह तीसरा तेज निकला। प्रह्लाद ने कहा—"तू कौन है ?" इस तेज ने उत्तर दिया—"म सत्य हूँ, सदा धर्म के साथ रहता हूँ, जहाँ धर्म गया है वहीं मे भी जाता हूँ।" ऐसा कहकर सत्य ने इद्र में प्रवेश किया। फौरन् एक चौथा तेज निकला और उससे प्रह्लाद ने पूछा—"तू कौन है ?" उस तेज ने जवाब दिया—"मै व्रत (दृढ़ नियम) हूं। जहाँ सत्य रहता है वहीं मैं रहता हूँ। सत्य के पीछे म भी जाता हूँ।" ऐसा कहकर व्रत ने भी इंद्र में प्रवेश किया। फिर एक पाँचवाँ तेज निकला। उससे प्रह्लाद ने पूछा—"तू कौन है ?" उसने उत्तर दिया—"मैं बल हूँ, जहाँ व्रत रहता है वहीं म रहता हूँ, जहाँ व्रत गया

वहाँ मैं भी जाता हूँ।" ऐसा कहकर बल ने भी इंद्र में प्रवेश किया। अंत में प्रह्लाद के शरीर में से एक दिव्य स्त्री निकली और प्रह्लाद के सामने खड़ी हो गई। प्रह्लाद ने पूछा—"तू कौन है?" इस स्त्री ने जवाब दिया—"महाराज, मैं आपकी श्री (लक्ष्मी) हूँ, जहाँ बल है वहाँ मैं हूँ; जहाँ बल गया वहाँ मैं जाती हूँ।" ऐसा कहकर उसने भी इंद्र में प्रवेश किया। पर जाते जाते इतना कहती गई कि हे राजा, तूने शील से तीन लोक जीते थे, इससे इंद्र ने ये तीनों लोक वापस लेने के लिये तेरा शील लिया है। यह समझ लीजियो कि धर्म, सत्य, व्रत, बल, और मैं (लक्ष्मी) भी शील के सहारे ही रहती हूँ।"

इस आख्यायिका को सुनकर दुष्ट दुर्योधन को भी यह जानने की इच्छा कि 'शील' क्या है। उसने पिता से पूछा—"पिताजी, मुझे बतलाओ कि यह शील क्या वस्तु है?" धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया—"मन, वाणी और कर्म तीनों में किसी प्राणी के प्रति द्रोह न करना, सबका उपकार करना और दान करना—इसी को शील कहते हैं। जो काम दूसरे के हितकर न हो और जिसके करने से हमें शरमाना पड़े वह कभी न करना चाहिए। वह काम करना चाहिए जिसकी चार भले आदमियों में तारीफ हो। शील का स्वरूप मैंने तुमसे संक्षेप में कहा। शील-हीन पुरुष भी कभी कभी ऐश्वर्य (लक्ष्मी) प्राप्त करते हैं,

परंतु वे बहुत दिन तक उसका भोग नहीं कर सकते। आखिर में ऐसे लोग नष्ट ही हो जाते हैं।"

दुर्योधन ने शील की महिमा सुनी तो सही पर उसके हृदय पर कुछ असर न हुआ और इसी से अंत में उसका नाश हुआ। छोटी अवस्था के दुर्गुण बड़े होने पर जल्दी नहीं जाते, इसलिये छुटपन से ही सद्गुणों की आदत डालनी चाहिए।

(१) दुर्योधन के घर लक्ष्मी कुछ कम न थी, परंतु दूसरे के सुख में दुखी होने की उसकी आदत थी।

(२) लोग शीलवान्—सदाचारी की इज़्ज़त करते हैं, उसके लिये वन में भी सुख संपत्ति की कमी नहीं रहती।

(३) शील का आधार कुल नहीं। प्रह्लाद, दैत्यकुल में पैदा हुआ था पर तो भी शीलवान् था।

(४) दुश्मन में भी शील हो तो लेना चाहिए।

(५) नम्रता, आग्रह और गुरुसेवा—इनके विना ज्ञान नहीं मिलता।

(६) शील विना धर्म, धर्म विना सत्य, सत्य विना व्रत, व्रत विना बल, बल विना लक्ष्मी (ऐश्वर्य) नहीं होती।

वह इस प्रकार कि—

(क) सब प्राणियों के ऊपर प्रेमरूपी जो शील है वह धर्म का सार है, धर्म का उस पर आधार है।

(ख) धर्म के ऊपर सत्य का आधार है। सत्य किसी मनुष्य की निजी संपत्ति नहीं, बल्कि वह सारे जगत् का पवित्र भंडार है, इसलिये धर्म को जानकर जो सत्य का ग्रहण किया जाय वही हित

कारक है । स्वार्थ के लिये सत्य का उपयोग करना उसका दुरुपयोग करना है ।

(ग) सत्य के ऊपर व्रत का आधार है । मनुष्य के जीवन के निश्चयों का आधार उन बातों पर है जिन्हें वह सच्ची मानता है । जिसके विचारों में सच है उसके जीवन में भी सच है । झूठ के ऊपर जीवन की भावना कभी टिक नहीं सकती ।

(घ) जहाँ सत्य पर रची हुई दृढ़ जीवन की भावना है वहीं बल है । शारीरिक बल या तोप-तलवार का बल, बल नहीं, परन्तु ऊपर बतलाई हुई भावना ही सच्चा बल है । ऐसी भावना से ही जगत् की बड़ी जातियाँ रणक्षेत्र में हमेशा जीती हैं । महाभारत का युद्ध शुरू होने से पहले कृष्ण के पास अर्जुन और दुर्योधन दोनों गए और दोनों ने उनकी मदद चाही । कृष्ण ने कहा—"एक आदमी मुझे लो, और दूसरा मेरी सेना को । जो मुझे लेगा उसके साथ मेरा यह क़रार है कि मैं उसका रथ हाँकूँगा, पर उसकी तरफ से शस्त्र न उठाऊँगा ।" दुर्योधन ने सेना ली और अर्जुन ने कृष्ण को लिया । कौन जीता, यह हम जानते हैं । मतलब यह है कि शारीरिक जीवन की अपेक्षा सत्य जीवन का बल अधिक है ।

(ङ) जहाँ बल है वहाँ लक्ष्मी है । निर्बल के यहाँ ऐश्वर्य नहीं रहता । अगर होता भी है, या आता भी है तो देर तक ठहरता नहीं । इसलिये सबका अंतिम आधार शील पर ही है ।

(७) शील का जो लक्षण ऊपर दिया है उस पर यहाँ विशेष रूप से विचार करते हैं—

(क) मन, वाणी और कर्म तीनों में किसी से भी किसी प्राणी के प्रति द्रोह न करने से यह मतलब है कि मन में किसी का बुरा न चाहना, मुख से किसी से कड़वे वचन न कहना और ऐसा काम न करना जिससे किसी का नुक़सान हो।

(ख) इतना ही नहीं कि किसी के प्रति द्रोह न करना चाहिए, बल्कि उपकार भी करना चाहिए। हर किसी का भला मनाना चाहिए, मीठी वाणी बोलनी और परोपकार के काम करने चाहिएँ।

(ग) तन मन से ही परोपकार न करना, धन से भी करना।

(घ) सिर्फ़ दूसरे को खुश करने ही के लिये कोई काम न करना चाहिए, उसके कल्याण के लिये करना चाहिए, और यह विचार लेना चाहिए कि इससे उसका हित होगा कि नहीं। दूसरे को अच्छा लगे, पर हम जानते हों कि उसे इससे ज़रूर नुक़सान होगा, तो ऐसा काम नहीं करना चाहिए।

(ङ) बुरा काम करने में हमें शरमाना चाहिए और भला आदमी ऐसा काम करने में मन में शरमाता ही है। हमारा पाप कोई न जाने तो भी उसकी शर्म हमारे हृदय में चुभती ही है। यह भीतरी लज्जा हमारे अच्छा बुरा जाननेवाली और जतलानेवाली अंतरात्मा से मिली-जुली रहती है।

(च) जो हमारे मन को अच्छा लगे उसे ही अच्छा न मान लेना चाहिए, बल्कि यह देखना चाहिए कि चार भले आदमियों की क्या राय है।

१४३—पूर्णाहुति

कांतिलाल—गुरुजी महाराज, अब मैं थोड़े दिनों में ऊपर के दर्जे में चढ़ जाऊँगा, इसलिये आपने जो उस दिन कहा था कि 'युधिष्ठिर ने यक्ष के प्रश्नों के बड़े अच्छे जवाब दिए और वे किसी और मौके पर बतलावेंगे' सो कब बतलाइएगा।

गुरुजी—जो तुम सबको बहुत जिज्ञासा हो तो आज ही उस विषय को उठावें।

कांतिलाल ने ऐसा करने की प्रार्थना की और कुल क्लास ने अनुमोदन किया।

गुरुजी—अच्छा, पर मैं तुमसे यक्ष के पूछे हुए प्रश्न कहूँ और तुम उनके उत्तर दो।

कांतिलाल—बहुत अच्छा, इससे हमारी बुद्धि खुलेगी।

फिर गुरुजी ने यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से पूछे गए कुछ प्रश्न पूछे और विद्यार्थियों से कितने ही अच्छे अच्छे उत्तर निकाले। हरएक विद्यार्थी एक नया जवाब देता, जिससे गुरुजी समझ जाते कि उसे कौनसा सद्‌गुण पसंद है, लेकिन इस बात को देखकर कि वे लोग ऐसे

विषय पर विचार कर सकें, गुरुजी को बड़ा आनंद हुआ और अंत में उन्होंने युधिष्ठिर के दिए हुए जवाब सुना दिये और आज्ञा दी कि इनमें से जिसे जो प्रश्न बहुत अच्छा लगे वह उस प्रश्न और उसके उत्तर को सुंदर अक्षरों में अपने पढ़ने के कमरे में लिख ले।

(१) यक्ष—जीता हुआ भी मरा हुआ कौन ?

युधिष्ठिर—जो पुरुष देवों, पितरों, अतिथियों, माता-पिता, नौकर चाकरों का और अपना पालन नहीं करता वह साँस लेता हुआ भी मरा ही है।

[देवों, पितरों और अतिथियों का पोषण करना यानी ईश्वर के अर्थ दान करना, पितर तृप्त हों यानी जिन्हें देखकर सुखी हों ऐसे कामों में दान करना, अपना आश्रय लेने आवे ऐसे मनुष्य बंधु को मदद करने में दान करना।]

(२) यक्ष—पृथ्वी से ज्यादा भारी क्या ? आकाश से ऊँचा क्या ? पवन से चंचल क्या ? और संख्या में तिनकों से ज्यादा क्या ?

युधिष्ठिर—माता पृथ्वी से अधिक भारी है, पिता आकाश से अधिक ऊँचा है, मन पवन से अधिक चंचल है और चिंताएँ संख्या में तिनकों से भी ज्यादा हैं।

[पृथ्वी पर जो कुछ रक्खा जाय उसे ही वह सहती है, ऐसे ही माता भी हमारे लिये बहुतसे दुःख चुपचाप सहती है, इसलिए हमें उसे भारी समझकर उसकी इज्जत करनी चाहिए।
जितनी देर में हवा यहाँ से तुम्हारे खेलने के स्थान में पहुँचती